

॥ श्री जिनायनमः ॥

श्री मद्योगीन्द्र देव विरचित

श्री योगसार

(अध्यत्म प्रथ)

अन्वयार्थ व भाषा टीकासहित

— लेखक —

टीकाकार

आगरा निवासी स्वर्गीय

पं० नन्दरामजी गोपल

— : —

अन्वयार्थ लेखक

पं० भूपेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ टूण्डला।

प्रकाशक

श्री दिग्म्बर जैन प्रातुसंघ,

बेलनगंज-आगरा।

प्रथमवार
१०००

कीर सं० २४६४
वि० सं० १३६८

{ मूल्य
५/-

दो शब्द

प्रस्तुत योगसार मन्थ श्रीमद्योगीन्द्र देव की रचना है। योगीन्द्रदेव कवि हुए यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता, परन्तु इतना निश्चित है कि वे दिग्म्बर जैन आन्नाय के मान्य आचार्यों में से हैं और उनके ग्रन्थों का बहुत समादर होता है। आचार्यवर की शैली अध्यात्म और भाषा अपश्चर्ण है। अधिकतर दोहों को आपने ज्ञानादा अपनाया है। आपके सभी ग्रन्थों की शैली एवं भाषा इतनी सरल है कि अपश्चर्ण भाषा को न जानने वाला भी अर्थ को सरलता पूर्वक समझ लेता है। किर भी हमने हृँडजा निवासी पं० भूगोलद्वी से संस्कृत छाया व अन्वयार्थ करवा कर लगवा दिया है जिससे प्रथ की उपयोगिता बढ़ गई है।

पं० मनोहरलालजी कृत नवीन टीका के होते हुए भी हमने प्राचीन पद्धति से लिखी हुई टीका ही को कई कारणों से प्रकाशित करना उचित समझा है। टीका की भाषा यद्यपि आजकल की नहीं है, परन्तु सामान्य जनता के लिये आजकल की भाषा से कहीं अधिक उचित एवं उपयोगी है, दूसरे प्राचीन विद्वानों की कृतियों की भी रक्षा आवश्यक है।

हिन्दी टीका कारक आगरे के ताजरंज मोहल्ले के निवासी थे, वहाँ नित्य शास्त्र रवाध्याय व चर्चा को शैली थी, उसी शैली में पढ़ने के लिये आपने सहयोगी घन्धुओं को सहायता से इस प्रथ की प्रस्तुत टीका बनाई थी।

संस्कृत छाया, अन्वयार्थ व टीका में कहीं कहीं प्रूफ संशोधन की भूलें रह जाता सम्भव है, हम विज्ञ पाठकों से निवेदन करते हैं कि वे शोधन कर लें व उन भूलों से हमें सूचित करदें जिससे आगामी संस्करण में वह शुद्ध करदी जायें।

—प्रकाशक।

धर्म का स्वरूप

स्वभाव

धर्म का स्वरूप “स्वतु स्वभाव” है। प्राणी अचेतन शरीर और चेतन आत्मा का योग है। अतएव प्राणी का धर्म आत्मा का स्वभाव है। आत्मा का स्वभाव सुख-शान्ति निराकुलता-ज्ञान है। अतएव धर्म का उद्देश सुख-शान्ति निराकुलता आदि आत्मिक गुणों की प्राप्ति करना हुआ। धर्म दुःख व अशान्ति का कारण नहीं है। इनके कारण राग, द्वेष, मोह, कषाय, विषय-वासना आदि हैं, धर्म इनको शमन करना सिखाता है। धर्म लड़ना नहीं सिखाता, धर्म के लिए लड़ना हो नहीं सकता क्योंकि जहाँ लड़ाई है वहाँ द्वेष है वहाँ धर्म नहीं होता। लड़ाई के द्वारा धर्म की रक्षा नहीं हो सकती।

अपने से भिन्न अद्वा रखने वाले को बुरा कहना, उसके इष्टदेव को अपशब्द कहना, उसके गुरुओं की अवहा करना धर्म नहीं है। ऐसा करना सबसे बड़ी हिंसा है और हिंसा अधर्म है। प्रेम पूर्वक सत्य पथ पर जाने के उद्देश से भिषु-शिष्ठ भाषा में अपने सिद्धान्त समझाकर उसका श्रधान बदलने की कोशिश करना दूसरी बात है।

संसार में विभिन्नता सदैव से है और रहेगी। विभिन्नता बाहरी है। इस विभिन्नता के अन्दर जो महान् एकता अंतर्ब्याप्त है वही सत्य है, शिव है, सुन्दर है। ज्ञान मात्र के लिये बाहरी भेद को विस्मरण कर अन्तर्बंगत में पेठ कर देखने से सर्वत्र सुख और शान्ति नज़र पड़ेगी। यह है अध्यात्म का उपदेश। अध्यात्म द्वारा प्राप्त किया हुआ अनुभव मनुष्य को दैव बना देता है। समझाव के द्वारा उसे संसार का ध्यान और इष्ट बना देता है। आत्म-दर्शन के कारण उसका हृदय स्फटिक के समान प्रकाशासन, समृद्ध के समान गम्भीर, पूर्णिमा के चन्द्र के समान अमृत शब्द और सो टंच के साने के समान निर्मल हो जाता है। आत्मज्ञान के बिना बाहरी क्रिया काँड़ से आत्मोन्नति नहीं हो सकती।

जे सिद्धमा जे सिज्जसिहिं जे सिज्जहिं जिण उत्तु ।

अप्पादंसण ते वि फुडु एहऊ जाणि खिभंतु ॥१०६॥

बाहरी क्रिया शरीरात्मित होने से अमूर्तिक आत्मा के परिणामों को निर्मल नहीं बना सकती। हाँ निमित्त रूप से सहायक अवश्य होती है, वह भी साधक दशा में। अतएव बाह्य क्रियात्मक धर्म हेय नहीं है, परन्तु उनको करते हुये 'भाव शुद्धि' रूप लहृय को विस्मरण नहीं करना चाहिये। बाह्य निमित्त आलम्बन है अन्तर्गत आत्म परिणाम की शुद्धि ध्येय है।

द्रवस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं ।

भावस्य शुद्धिमधिकामधिगत्तुकामः ॥

काल दोष से संसार में मनुष्यों की दृष्टि भौतिक होती जा रही है, परन्तु उनके चित्त में से धर्म भाव का अभाव नहीं हो

सकता । अध्यात्म का लक्ष्य यदि उनके सामने रखा जाय तो अवश्य संसार में पुनः प्रेम शोत्र वह सकता है । पढ़े-लिखे मध्यस्थ भावों वाले मानवों को मौजूदा धार्मिक (?) नामधारी भगवें, किसाद्, हिंसात्मक भाव परम्परा नहीं हैं । सो ठीक भी है । धर्म के नाम पर धर्मभास, साम्प्रदायिकता, अन्धविश्वास, कषाय, द्वेष आदि विकृत भावों को स्थान देना अवश्य ही धर्म नाम को कलंकित करना है ।

सच्चे धर्म भाव-अहिंसा को पुनः दैनिक जीवन में स्थापित करने के लिये आत्मबाद अध्यात्मबाद के पुनरुद्धार की आवश्यकता है । देना यादी में अध्यात्म वाद वर सहस्रों प्रन्थ लिखे हैं । दिगम्बर आश्राय के आचार्यों का तो एकमात्र लक्ष्य अध्यात्म ही रहा, यही कारण है कि अन्य विषयों के प्रन्थ उनमें नहीं मिलते जितने 'वीतराग' चर्चा के । इन प्रन्थों में भगवन् कुन्द कुन्दाचार्य का समयसार अत्यन्त गम्भीर एवं उच्च कोटि का प्रन्थ है जिसके स्वाध्याय से अपूर्व शान्ति मिलती है । प्रबचन-सारादि उनके अन्य प्रन्थ भी अपनी कोटि और शैली के आप ही हैं ।

कुन्द कुन्दाचार्य के बाद योगीन्द्रदेव का ही स्थान है । परमात्म प्रकाश इनका एक बहुत उच्चकोटि का सरल एवं गम्भीर प्रन्थरत्न है । प्रसुत प्रन्थ योगसार भी उन्हीं की रचना है ।

योगसार में किसी विशेष प्रकार के योग की सिद्धि का वर्णन नहीं है बरन् मन, वचन, काय की क्रिया रूप योगों को निरोध कर आत्म ध्यान करने का सरल एवं सुगम मार्ग बताया है । सभी अध्यात्म प्रन्थों की तरह इसमें भी निश्चय नय वर्णन किया गया है, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि व्यष्टिहार नय को सर्वथा हेतु बताया गया हो । प्रत्युत जैन

सिद्धान्त की विलक्षणता के अनुरूप स्यादवाद के द्वारा मुख्य गौण के अभिप्राय से कथन किया गया है।

आध्यात्म में व्यवहार नय अर्थात् भेद रूप या बाहरी रूप को गौण कर वस्तु स्वरूप को मुख्य रखा जाता है। उसी दृष्टि से इस प्रन्थ में कथन है। निश्चय नय को लद्य या उद्देश बनाकर, व्यवहार नय को उसकी प्राप्ति का साधन-निमित्त रूप में प्रहण करना चाहिये। परन्तु सर्वथा एक ही को स्वीकार करने से मनुष्य लद्य अष्ट हो जाता है। आजकल कुल परम्परागत धर्म होने से ब सच्चे लक्ष्य के उपरोक्त-उद्देश्य से व्यावर से प्राणी धर्म करते हुये भी स्वात्म कल्याण रूप मुख्य उद्देश से दूर हट जाते हैं।

वर्तमान में संसार में और मुख्यतया लैन समाज में वाला-बाल्यरी धर्म को बहुत महत्व दिया जाने लगा है। कभी कभी धर्म के अभिप्राय से हम आत्म धूचना कर जाते हैं। अपने व दूसरे के कथाय परिणामों को उत्पन्न करने के साधन उपस्थित कर देते हैं। धर्म प्रभावना के नाम पर आत्म कल्याण के मुख्य मार्ग या यों कहना चाहिये कि स्वतः धर्म-अहिंसा ही को विस्मरण कर वैठते हैं।

मीजूदा कपायपूर्ण बालाबरण में प्राणियों का वास्तविक कल्याण हो। धर्म के नाम पर लीवाहिंसादि की तरह सिरफ़टैल और द्वैष न होने पावे, सर्वत्र प्रेम, अहिंसा, शान्ति और आत्म-ज्ञान का प्रकाश हो, इसलिये परम आवश्यक है कि योगसार सरीखे अध्यात्म प्रन्थों का प्रकाशन और प्रचार किया जाय।

ताराचन्द रपरिया ।

६ औ नमः सिद्धात्मने ७

श्रीमद् योगीन्द्रदेव विश्चित योगसार

— : * : —

टीकाकार का मंगलाचरण

दोष

नमो आदि अरहंत पद वन्दों सिद्ध महत्त्व ।
रत्नश्रय धारक मुक्ति मन ते सेव चहत्त ॥१॥

ओटक

श्रुत देवी वर दे बुद्धि हिये,
जाते निज पर को ज्ञान किये ।
जब वीतरागता हो हु जिये,
तब मोक्ष पथ हम सहज लिये ॥२॥

अडिल

आरहंत सिद्ध मुनिशाज जिनेश्वर वाणिं जी ।
मंगल उत्तम शरण जीव सुख खानि जी ।
मात-पिता गुरु सज्जन ये ही सार जी,
नरक पशु गति छेदि स्वर्ग शिव कार जी ॥३॥

सोरठा

तोथंकर चौचीम शुषभ आदि अनि ओर भजि ।
पृथिवो तक धरि शीस बन्दों सुमिरों थुति करों ॥४॥

चौपाई

पंच विवेह क्षेत्र में शीस ।
समव शरण राजत हैं ईश ॥
ज्ञानादिक गुणनाण की खानि ।
बन्दों सेवा साँगों सेवा लान ॥५॥

कवित्त

जम्बूद्वीप धात की जानों पुकराई लौं क्षेत्र बखान ।
सौ सत्तर क्षेत्रन में जिनवर तीर्थंकर केवल भगवान ॥
गणधर मुनि ऋषिराज साधु यति तीन काल सम्बन्धी जान ।
पंच कल्याण क्षेत्र काल द्रव भाव सहित बन्दों सुख खान ॥६॥
तीन लोक जिन भवत अक्षत्रिम कृत्रिम मध्य लोक में जान ।
रज्जमयी प्रतिमा सुन्दर छवि वानु पाषाण रूप गुण खान ॥
देखत राग द्वेष परिणति नशि वीतरागता हिये प्रमान ।
कल्पवृक्ष बन् सुखदाता हो बन्दों शीम नाय दुख हान ॥७॥

पद्मद्वी

अब सम्यक दर्शन शीस नाय,
बन्दों सुमिरों पुनि ज्ञान ध्याय ।
चारित्र तने गुणनाण विचार,
तप चार आराधन अंत धार ॥८॥

दस लक्षण धर्म जु मोक्ष रूप,
करणा सब जीवनि सुख स्वरूप ।

मुनि चार दान अनुमोद धार,
जिन पूजा प्रोष्ठ ब्रत उचार ॥६॥

दर्शन विशुद्ध पोदश प्रकार,
तीर्थंकर पद बाँधे जु सार ।

धर शान्त भाव मैत्री प्रभाव,
क्रोधादिक अरि जीते विभाव ॥७॥

म्यारह अँग चलदश पूर्व रूप,
जिन वाणी मूर्धी अष्टि अनूप ।

ता रहस (स्य) लाय अनुयोग चार,
कथनी वरणी गुरु है दयार (लु) ॥८॥

प्रथम ही श्रो प्रथमानुयोग,
दूजे करण चरणानुयोग ।

चौथा अध्यातम मोक्ष रूप,
वेदनि को नभि पाऊ स्वरूप ॥९॥

त्रैसठ सत्पुरुषनि को चरित्र,
कुलकर नारद कथनी विचित्र ।

शुभ अशुभ भाव तें पुरुष-पाप,
सुख दुःख भुगतें जिय एक आप ॥१०॥

दूजे में वर्णन तीन लोक,
गति मारणणा आदिक विलोक ।

तीजे मुनि श्रावक धर्म जानि,
सुनि सुख उपजै आनन्द खानि ॥११॥

अध्यातम कथनी कही सार,
द्रव्यानुयोग जिनवर उचार ।

इन कथन मांहि सम्यक्त्व रूप,
भाष्यो जिनवर अद्भुत अनूप ॥१५॥

ता सहित जीव लहि मोक्ष थान,
सब गुण मणित अद्भुत निधान ।

त्रैलोक्यनाथ बन्दत महन्त,
मुनि गण बन्दत कर्मनि दहन्त ॥१६॥

ता जिन आत्म संसार मांहि,
भवियौ चउगति में दुर्गत पाहि ।

मैं ताको बन्दों जोरि हाथ,
मुझ हृदयाम्बुज में बसौ साथ ॥१७॥

इस कथनी रूप जु उद्धिभ माह;
मुझ शक्ति नहीं तिरने उपाह ।

गुण चिन्तन कर निज आत्म मैल,
प्रक्षालन कर ज्यों बाल खेल ॥१८॥

बुधिवान् हांसि मति करो मोय,
तुम्हरे प्रसाद बुधि लहूँ सोय ।

अब कथन देखि जिन प्रन्थ मांहि,
बुधि सारूँ कहूँ मम भ्रम नशाहि ॥१९॥

दोहा

श्री पारस तेविसम जिन, इयामवर्ण छविवन्त ।

निराखि विम्ब जिन घृह विषे, गुण चिन्तन कर सन्त ॥२०॥

अष्ट अंग नमि भूमि में कर युग जोरि नमन्त ।

भक्ति भाव ते एक मन फल बुधि दो शिवकन्त ॥२१॥

यही भक्ति फल दीजिये हे प्रभु दीनदयाल ।

यासौं सम्यक् रतन लहि तुम गुण वरनो हाल ॥२२॥

दोहा

परम योगी योगीन्द्र के चरण सरोज चितार ।
योगसार शुभ मन्थ को वर्णू देव सम्भव ॥१॥

उत्थानिका—आगे इस श्री योगसार नामा
शास्त्र के मङ्गलाचरण रूप इष्ट देव को नमस्कार
पूर्वक प्राकृत बद्ध दोहानि का संचेप-मात्र उद्धि
अनुसार भाषा बचनिका रूप लिखिये हैं ।

मन्थकर्ता का मंगलाचरण

गिम्मलभाण परद्विया कम्म कलंक डहेव ।
आप्या लढ्डृ जेण पर ते परमप्य गुमेव ॥२॥

निर्मल ध्याने परिस्थाय कर्म कलंक दर्घवा ।

आत्मा लध्वो यन परः ते परमात्मानं नीमि ॥३॥

अन्वयार्थ—(गिम्मलभाण) निर्मल-निर्देष एवं विशुद्ध
ध्यान-चिन्तवन में (परद्विया) ठहर करके (कम्म कलंक)
कर्म कालिमा को (डहेव) जलाकर-नष्ट करके (जेण) जिस
परम ध्यानी ने (पर) उत्कृष्ट (आप्या) आत्मा (लढ्डृ) प्राप्त
कर लिया है—परमात्म-पद पाया है (ते) उस (परमप्य)
परमात्मा को (गुमेव) नमस्कार करता हूँ ।

टीका—आगे योगसार नामा मन्थ के कर्ता
योगीन्द्र (श्री योगीन्द्र देव) आचार्य प्रथम ही
इष्टदेव को नमस्कार रूप मंगलाचरण करते सन्ते

कहें हैं । मैं तिन परमात्मा शुद्ध समयसार को नम-
स्कार करूँ हूँ । जो निर्मल ज्ञान, राग, द्रेष, मोह,
विभाव रहित, शुद्ध वीतरागता रूप अभेद रक्षत्रय
में निज आत्मा को एकाग्रता करि, अन्य विकल्प
रोकि अनुभवन कर शुद्ध ध्यान विषें परस्थित कहिये
पूर्ण स्थिति होइ, धाति अधाति कर्म रूप कालिमा
को धोय तथा कर्मरूप ईन्द्रजल को ध्यान लग अग्नि
में भस्म कर निज स्वाभाविक सम्यकत्वादि अष्ट
गुण तथा अनंत गुण के समुदाय रूप आत्म स्वभाव
की लब्धि को प्राप्त भये हैं तिनको मैं बन्दना करौं
हूँ । भावार्थ—जे भव्य जीव संसार देह भोगनि ते
कोई कारण पाय विरागी होय गृहस्थाश्रम का
त्याग करि शुद्धोपयोग रूप जो मुनि लिंग ताहि
ग्रहण कर गुरुनि के निकट तथा संघ में वा विशेष
शक्ति तैं एकाविहारी होय आत्मा का ध्यान धारि
तिष्ठे अष्टाईस मूल गुण पाले हैं । तथा गुणि,
समिति, दश लक्षण धर्म, बारह भावना, बाईस
परीषह का सहना, चारित्र का पालना, बारह भेद
रूप तप का तपना हस्त्यादिक वाल्य शुद्धोपयोग के
साधन करें हैं । अपना उपयोग अन्य विकल्प से

रोक आत्मभाव में राखे हैं । कदाचित् मंद कषाय तें धर्म के अंगनि विषें अनुराग करि गुरुनि के सुख तें तत्त्व के विशेष सूक्ष्म भाव पूछि आप निर्णय परीक्षा करि के निःसन्देह तत्त्वार्थ के ज्ञाता हुये हैं । तीनों कालों में आवश्यक निरतिज्ञार पाले हैं । शरोर तें करै हैं, परन्तु शरीराभिन क्रिया तें विरक्त रहै हैं । ध्यान अध्ययन करि काल व्यनीत करै हैं । बहुरि ज्ञान वैराग्य के घल तै उपयोग शुद्ध निर्मल करि ध्यान विषें स्थिरीभूत होइ कर्म कलांक रूप हन्धन कौ दग्ध करि सहज स्वाभाविक पर निमित्त विना, ज्ञानादिक अनंत गुण रूप सूक्ष्मी की लक्षित को पाइ, जिन पद में तिष्ठ बहुरि ऊर्ध्व-गमन स्वभाव तें कर्म रज ते रहित होइ पुरुषाकार किंचित् ऊन सिद्ध क्षेत्र जाय विराजें हैं । तिन ही परमात्मा स्वामी को मैं नमस्कार करै हूँ । व्यवहार नय तें अष्ट गुण मयी भये निश्चय मे अनन्त गुण स्वरूप हैं । कृतकृत्य अवस्था को प्राप्त भये हैं । अनुपम अनंत सुख को पाय स्थिरीभूत तिष्ठें हैं ॥१॥

आगे जिन पद जो अरहंत देव ताहि नमस्कार करै हैं ।

वाइ चउक्कह किउ विलउ अरण्त चउक्क पदिट्ठु ।

ताहि जिण ईदहं पयणविवि अक्खामे कब्बु सुइट्ठु ॥२॥

घाति चतुष्कस्य कृत विलयोऽनन्तचतुष्टयप्रतिष्ठितः ।

त जिनेन्द्रं प्रणम्य करोमि काव्यं सुट्ठु ॥३॥

अन्वयार्थ—(वाइ चउक्कह) घाति कर्म चतुष्टय-ज्ञानावरण, दर्शनावरण, भोहनीय, अन्तराय इन चार घातिया कर्मों का जिन्होंने (विलउकिउ) विलय-क्षय किया है । और (अनन्त चउक्क) अनन्त चतुष्टय-अनन्त दर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से जो (पइट्ठु) प्रतिष्ठित-सहित हैं । (तं) उन (जिण ईदहं) श्रीमज्जिनेन्द्र भगवान् को (पयणविवि) प्रणाम-नमस्कार करके (सुइट्ठु) सुन्दर एवं सुरुचि कारक (कब्बु) काव्य-श्रीयोगसार ग्रन्थ (अक्खामि) आद्यात-वर्णन करता हूँ ।

टक्का—जे घातिया चार कर्मनि विलय करि अनन्त चतुष्टय लहमी के ईश पद में तिष्ठें हैं ऐसे अरहंत आस वीतराग देव तिनके पद युगल को नमस्कार कर दोहा छंदनि में रचना करूँ हूँ । कैसा है दोहा काव्य जीवन को हितकारी है । **भावार्थ—** स्वपर को सुख दानी है । जे चार घातिया कर्मनि का नाश कर अनन्त चतुष्टय पद परम इष्ट ताहि प्राप्त हुये हैं । तिनही गणधरादिकनि करि सेवित श्री अरहंत जिनेन्द्र के पद कमल को प्रणाम करि

प्राकृत दोहा काव्य कहुँगा । कैसा काव्य कहुँगा । जो सब जीवनि को हित रूप मोक्ष का कारण है । भावार्थ—अनादि काल तें या जीव के स्वभाव-ज्ञान दर्शन सुख धीर्घ तिनका घात कहिये व्यक्तता न होनो सो इन घातिया कर्मनि के उदयतें है । किंचित् ज्ञान दर्शन की शक्ति सो इन्द्रिय मन के धारे ता कर्म के ल्योपशम तें होय है । मोह के उदय तें निराकुल परमानन्द रूप अनुभवन सुख न होय है, पर द्रव्यनि में आत्म-बुद्धि होय, इष्ट अनिष्ट विषयनि में कषाय परिणति होय ता करि आकुलित महा दुखी ही रहे है । इन घातिया कर्मनि करि अनंत जीव जेर हुये महादुख भोगवें हैं तिन जीवों मध्य कोई महाभाग जिनप्रणीत धर्म का साधन कर मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण अंतराय को नाश कर अनंत स्वभाविक लक्ष्मी को प्राप्त हुये । ऐसे जिन हैं । तहाँ ज्ञानावरण कर्म के नाश तें सर्व द्रव्यनि के अनंत गुण पर्याय तीन काल संर्थधी युगवत् विशेष रूप जानें हैं । दर्शना-वरण कर्म ल्य तें त्रिकालवतीं सकल गुण पर्याय सहित सकल द्रव्यनि को निराकार (विशेष रहित) युगपत् देखें हैं । अन्तराय के नाश तें अनन्त गुण

(१०)

की व्यस्तता की सामर्थ्य रहते हैं। मोहनीय के अभाव तें निराकुल परमानन्द आत्मिक अनंत सुख भोग हैं। अघातिया कर्मनि के उदय तें पाप रूप अशुभ कर्म का तो उदय ही नहीं, जो असाता-बेदनीय का उदय है सो जली जेवरो बत् निष्फल मोह बिना कोई दुःख सुख नहीं करि सकै। शुभ के उदय तें अलौकिक अद्भुत आरचर्यकारी विभव शरीराश्रित तथा बाह्य सामग्री के संयोग तें होय है, परन्तु मोह बिना हर्ष का कारण न होय तातें चीत-राग सर्वज्ञ पद धारै हैं। गणधरादिकनि करि बंदिवे योग्य हैं। तथा सुनि समूहनि के नायक जिनवर कर्मनि के जीतने वाले श्रेष्ठ तिन्हें बंदिके अपने कल्याण के अर्थ काव्य करते हैं ॥२॥

संसारह भय भीयाहं मोक्षह लालसियाहं ।
अप्यासंबोहण क्यहं दोहा एककमणाहं ॥३॥

संसारस्य भयभीतानो मोक्षस्य लालसितानो ।
आत्म संबोधनार्थं दोहकान् एकमनसा ॥४॥

अर्थ—(संसारह) संसार से (भयभीयाहं) भयभीत और (मोक्षह) मोक्ष की प्राप्ति की इक्षा सहित (अप्यासंबोहण) आत्मा के सम्बोधन के लिए (एककमणाहं) एकाप खित होकर (दोहा क्यहं) दोहा छन्दों को लिखता हूँ।

टीका—ग्रंथकर्त्ता आचार्य कहते हैं मैं जु हों योग-
सार शास्त्र का कर्त्ता योगिचंद्र नामा आचार्य सो
संसार से भयभीत होय मोक्ष का अर्थी आत्मा के
संबोधन के अर्थ एक मन होइ काव्य दोहा छंद करि
करते हों। भावार्थ—हस योगसार ग्रंथ की रचना दोहा
रूप काव्य करि कर्त्ता हूँ। सो लौकिक अभिप्राय
ख्याति लाभ पूजा तथा संसार संबंधी विषय कषाय
पूर्ति निमित्त नहीं करते हों। इस लोक परलोक सुख
होय सो मैं एक—केवल संसार के भ्रमण से दुखी
हुवा संता भयभीत होय मोक्ष सुख का अभिलाषी
आत्मा के प्रति बोधने को एकाग्र मन होय ग्रन्थ
रचना करते हों। इस में अध्यात्म रूप कथनी है। सो
भव्य जीव आत्म कल्याण के अर्थी हो तुम चित्त
लगाय सुनो यही कर्त्तव्य है ॥३॥

कालु अणाइ अणाइ जिउ भवसायह जि अर्णतु ।

मिच्छादंसण मोहियउ ण वि सुह दुक्ख जि पतु ॥४॥

कालोऽनादि अनादिजीवी भवसागरीउपि अनन्तः ।

मिद्यादर्शन मोहितः नापि सुखं दुखमेव प्राप्तः ॥५॥

अर्थ—(कालु) समय चक्र (अणाइ) अनादि है। (जिउ)
जीव भी (अणाइ) अनादि है। और (भवसायह जि) जीवल

मरण रूप संसार समुद्र भी अनन्त है। इसलिए संसार के प्रत्येक जीव ने (मिच्छादंसण मोहियउ) मिथ्यादर्शन-अनन्त श्रद्धान से मोहित होकर कभी (सुह) सुख (एवि) नहीं अपितु (दुःखजि) दुःख ही दुःख (पतु) पाया है।

टीका—अनादि काल तें अनादि का यह जीव अनंत संसार समुद्र जो जीवन मरण रूप चक्रता में मिथ्यादर्शन करि मोहित हुवा सुख को न पावता एक दुःख ही को भोगवै है। केवल दुःख ही का पात्र हुवा महा खेदित होय निरंतर अमण करै है। **भावार्थ**—अनादि काल तें अनादि का यह जीव कर्मनि करि बंध्या चतुर्गति के अमण रूप मंसार, नाहीं है अन्त जाका तामें मिथ्यादर्शन करि मोहित हुवा सुख को न पावता संता केवल दुःख ही को भोगवै दुःख ही का पात्र होय है। इस जीव की दुःख अवस्था एक मिथ्यादर्शन करि होय है। यद्यपि ज्ञान दर्शन सम्यक्त्वादि निज स्वाभाविक गुणों का मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय घातिया कर्मनि के उदय तें अभाव है। तथा इनके क्षयोपशम तें किंचित् पराधीनता लिये अस्पष्ट, किम तें, ब्रह्म इन्द्रिय व मन द्वारा सञ्चुख हुये कोई पदार्थ को विशेष लिये देखै है सो ऐसी शक्ति का कोई गुण स्वभाव अनादि तें लेकर

अनंत काल पर्यंत रहे हैं। इस ही चैतन्यता तें जीव को जीवत्व सिद्ध है। बहुरि मोहनीय के उदय तें मिथ्यात्व रूप और कषाय रूप भाव होय हैं। ता करि पदार्थ परिणाम में अन्यथा प्रतीति करि कषाय तें इष्ट अनिष्ट नें गहि दुःखी होय है। तातें तिन धातिया कर्म और अधातिया कर्मनि के उदय तें वा द्योपशम तें गुणन की अव्यक्तता का और वास्त्र संयोग शुभ अशुभ होने का निमित्त कारण मोहोदय जनित कषाय परिणाम होय हैं। तथा नवीन वंध का कारण हूँ होय है। धातिया के द्योपशम और अधातिया के उदय के निमित्त से उत्पन्न हुये जो राग द्वेष मोह मिथ्यात्व कषाय रूप भाव, तिनकरि जीव महा दुःखी होय है। तातें मोहनीय के वशीभूत हुवा स्वाभाविक सुख तें रहित दुःखी होय है। इन ही में नौतन वंध होय है। और ताका फल संसार भ्रमण है ॥४॥

उ०—आगे मोह के कारण का उपदेश करें हैं।

जह वीहड चउगाहगमणु तड परभाव चटवि ।

अप्या भावह लिमलउ जिम शिवसुक्ख लहेह ॥५॥

यदि विभेषि चतुर्गतिगमनात् ततः परभावं त्यज ।

आत्मानं ध्याय निर्मलं येन शिवसौख्यं लभसे ॥५॥

अन्वयार्थ—(जह) यदि तू (चउगइगमणु) चतुर्गतिरूप संसार के भ्रमण से (चीहड) भय करता है । (तउ) तो (परभाव) आत्मातिरिक्त पुद्गलादि पर पदार्थों में ममत्व परिणाम (चएह) त्याग कर दे । और (आग्या) आत्मा को (शिव्मलहु) निर्देषि (भायह) विचार कर । (जिम) जिसमे (शिवसुख्य) मोक्ष सुख को (लहेह) प्राप्त करे ।

टीका—ओ गुरु निकट भव्य प्रति उपदेश कहे हैं । जो तू संसार विषै चतुर्गति के भ्रमण से भय-भीत है, डरै है, कौंपै है, तो परभाव त्याग कर निर्मल आत्मा को ध्याय । जिससे शिवसुख को पावे । **मार्गार्थ—**संसार के भ्रमण का कारण एक पर भाव है, काहे तैं । निज भाव दुःख का कारण वा दुःख रूप न होय है । जो निज भाव ही दुःख का कारण होय तो मोक्षरूप हित-कार्य पर-जनित भाव तैं होय, शारवत सुख कैसे होय । यो कदापि न होय । परभाव कहिये जो, पर निमित्त विना, सहज द्रव्य के गुण परिणमन भाव, तिस तैं विपरीत, पर द्रव्य के निमित्त से उपजै सो परभाव हैं । ताहि त्याग निर्मल शुद्ध, राग, द्वेष, मोह भाव रहित,

वीतराग ज्ञायक मात्र निविकल्प अकंप स्वप्न आपको
ध्यान में ध्याय तो तू मोक्ष सुख पावे । तात्पर्य यह
जो शुद्ध अवस्था आत्मा की सोई शुद्धता का
करना है ॥५॥

तिपयारे अप्णा मुण्डहि पह अंतर बहिरप्सु ।

पह भायहि अंतर सहित बाहर चयहि णिर्भतु ॥६॥

त्रिप्रकारे आत्मानं मन्यस्व परमंतो बहिरात्मानं ।

परं ध्याय अन्तःसहिते बाह्यं त्यज निर्भान्ते ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ—(अप्णा) आत्मा को (तिपयारे) तीन प्रकार
का (मुण्डहि) जानो, (पर) परमात्मा (अंतर) अंतरात्मा
(बहिरप्सु) बहिरात्मा । (अंतर सहित) अंतरात्मा सहित
(पर) परमात्मा का (भायहि) ध्यान करो । अर्थात् अंतरात्मा
और परमात्मा को विशुद्ध रीति से विचार करो । (बाहर)
बहिरात्मा को (चयहि) त्याग करो । अर्थात् अपने में से
बहिरात्म बुद्धिमित्या विपरीताभिनिवेश को निकाल कर शुद्धात्मा
का चित्तवन करो ।

टीका—आत्मा विभाव, स्वभाव परिणमन तैं
तीन प्रकार भोग्राणियों तुम जानो । १—एक आत्मा
शुद्ध भाव स्वप्न परमात्मा । २—एक आत्मा अभ्यंतर
शुद्धता के अद्वान तैं अंतरात्मा । ३—एक आत्मा
विभावता करि बहिरात्मा । सो तुम मोक्ष रूप हुआ

चाहो हो तो शुद्ध परमात्मा स्वरूप, राम-द्वेष मोह परिष्णिति दूर कर अंतरात्मा होय वहिरात्मपना रूप मिथ्यात्व कषाय भाव छोरि आत्मा को ध्यावो । तो शीघ्र शुद्ध पद पावौ । मावार्थ—आत्मा तीन प्रकार है । एक परमात्मा अरहंत, सिद्ध । दूजा अंतरात्मा चौथे गुणस्थान तैं लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यन्त सूरि, उपाध्याय, साधु । तीजा वहिरात्मा मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती । सो जीव अन्तरात्मा होय वहिरात्मपना त्याग शुद्ध परमात्मा को ध्यावे तो तू मोक्ष पद पावे । इसमें संदेह नहीं । निर्वान्त जान ॥६॥

अंतरात्मा का स्वरूप वर्णन करते हैं ।

मिच्छादंसण मोहियड परु अप्पा ए मुण्डे ।

सो वहिरप्पा जिण भणिड पुण संसार भमेह ॥७॥

मिथ्यादर्शन मोहितः परमात्मानं न मनुते ।

स वहिरात्मा जिनभणितः अमति ॥७॥

अन्यार्थ—(मिच्छादंसण मोहियड) अनात्म श्रद्धान् रूप मिथ्या दर्शन के बशीभूत हुवा प्राणी (परु अप्पा) परमात्मा को (ए) नहीं (मुण्डे) समझ सकता है । (सो) वह (वहिरप्पा) वहिरात्मा-आत्मातिरिक्त 'पदार्थों में स्वत्व मानने वाला (जिण भणेड) जिनेन्द्र देव ने बतलाया है और वह विपरीत अद्वा के कारण ही (पुण) किर २ (संसार में) जगन् में (भमेह)

परिभ्रमण करता है। अर्थात् सत्य-शक्ति के बिना संसारेन्द्रिय नहीं होता है।

टीका—यह जीव मिथ्यादर्शन करि मोहा थका परमात्मा को आत्मा न जानै है न अनुभवै है। सोई वहिरात्मा जिनदेव ने कहा है। वहुरि वही वहिरात्मा संसार में परिभ्रमण निरन्तर करै है। **मायार्थ**—अनादि अविद्या-मोह-से मोहित हुवा यह जीव अपने आत्मा को परमात्मा सदृश्य शुद्ध अनुभव नहीं करता बल्कि देहादिक पुद्गल पद्यार्थों में निज चुद्धि रखता है जिससे संसार में भ्रमण होता है ॥७॥

अन्तरात्मा का स्वरूप वर्णित करते हैं।

जो परियाणइ अप्प परु जो पर भाव चयेइ।

सो पंडित अप्पा मुण्डि सो संसार मुयेइ ॥८॥

यः परिज्ञानाति आत्मानं परं यः परभावं त्यजति ।

स पंडित आत्मानं मनुते स संसार मुच्चति ॥९॥

अन्वयार्थ—(जो) जो भद्र प्राणी (अप्प परु) आत्मा और आत्मातिरिक्त पुद्गलादि पदार्थों को भेद-ज्ञान शक्ति से यथा स्वभाव पृथक्-पृथक् (परियाणइ) हृदयंगम कर लेता है। और (जो) जो भेद-विज्ञान-दर्शी (पर भाव) कर्म-बृन्ध जनित कषाय मोह भाव को (चयेइ) दूर कर देता है। (सो) वह

निर्माही (पंडित आपा) पंडित आत्मा—अन्तरात्मा (मुण्डि) माना गया है। अथवा (स पंडित) वह विद्वान् (आपा) आत्मस्वरूप को (मुण्डि) ठीक-ठीक समझता है। और (स) वही (संसार) संसार को (मुयेइ) परित्याग कर देता है। संसार से मुक्त हो जाता है।

टीका—जो निश्चय नयतें-प्रधानपने तें आत्मा ही को परमात्मा जान, परभाव त्यागै है सो ही आत्मा पंडित अंतरात्मा जानो। सोई अन्तरात्मा संसार को मुँचै कहिये छोरै है। भावार्थ—निश्चय नय से आत्मा ही परमात्मा, जो परमात्मा सोई आत्मा। जातें जीव द्रव्य की शक्ति की अपेक्षा भेद नहीं। जो शक्ति का व्यक्त होना सो तो परमात्मा। शक्ति का पर निमित्त करि व्यक्त न होना सो संसारी आत्मा। सो इस भेद ज्ञान को पाय मोह जनित विभाव जो परभाव ताहि त्यागै है। सहज, परनिमित्त विना, उदासीन बीतराग शुद्धोपयोग भाव भावै है सो संसार त्याग परमात्मा पद ताहि पावै है।

परमात्मा के स्वरूप का विचार करते हैं।

ऐमलु यिङ्कलु सुख जिण विरहु बुद्ध सिव संतु।

सो परमणा जिण भणेऽ पहड जाणि गिभंतु ॥६॥

निर्मलो निष्कलः शुद्धः जिनो विष्णुः बुद्धः शिवः शान्तः ।
स परमात्मा जिनभण्डित एतज्ञानीहि निर्भान्तम् ॥८॥

अन्वयार्थ—(शिष्यलु) जो द्रव्य मल, भावमल अथवा कर्ममल, नोकर्ममल से रहित निर्दीप हैं। (णिकलु) शरीर एवं शारीराश्रित दुःख-दुर्गुण-दोषों से हीन है। (शुद्ध) परम शुद्ध ध्यान से परिणामों की पूर्ण शुद्धि प्राप्त कर लेने से शुद्ध है। (जिन) कर्म-शात्रु, विषय-कषाय, इन्द्रिय-मन को जीत लेने के कारण जिन है। (विष्णु) ब्रैलोक्यवर्ती सर्व द्रव्यों में कबल ज्ञान द्वारा ध्यात (फैला हुआ) होने से विष्णु है। (बुद्ध) सर्वोत्तम बुद्धि के धारक होने व सर्व संसार को प्रबुद्ध कर देने तथा अखिल जगन् के बोक्षा (ज्ञानी) होने से बुद्ध है। (शिव) कल्याण प्राप्त कर लेने से, कल्याण के कर्ता होने से और सुकृपा लेने से शिव है। (संतु) परमशान्त बीतराग भाव धारण करने के कारण इन्द्रिय मन विषय-कषाय संसार भोगों को शान्त कर देने के कारण शान्त है। (सो) वह (परमपा) परमात्मा है। (एहउ) यह बात (णिर्भुतु) निःसंदेह (जिण भण्डित) सर्वज्ञ, बीतराग एवं हितोपदेशक जितेन्द्र भगवान् ने कही है। (जाण) सो अच्छी तरह समझ कर सत्य श्रद्धान करना चाहिए।

टीका—जो निर्मल है निःसंदेह है निःशरोर है शुद्ध है, जिन है, विष्णु है, बुद्ध है, शिव है, संत है, (शान्त है) सोई परमात्मा जिनदेव ने कहा है। निरचय सों ऐसे ही निःसंदेह भ्रम-रहित जानो। **भावार्थ—**कर्ममल-रहित है। शरीर-रहित

है । विभाव-रहित शुद्ध है । जेता-जिन है । सर्वज्ञ-
चिष्णु है । महाज्ञानो-बुद्ध है । निर्बिधन-मुक्त है ।
महादेव है । महायान्ति रूप संत है । सोई परमात्मा
अरहंत देव ने जिनवाणो में कहा है । निर्भान्त-
सत्यार्थरूप या में संदेह नहीं । जो परबादी अनेक
रूप कल्पना करते हैं, सो मिथ्या है । जो आत्मा
परभाव त्याग परमात्मा होय । सो वाही के संरूपात
असंख्यात अनंत गुणनि करि नाम हैं, और के
नाहीं ॥६॥

वहिरात्मा के स्वरूप को बरेन करते हैं ।

देहादित जे पर कहिया ते अप्याल मुण्डे ।
सां वहिरप्या जिल भणित पुण संसार भमेइ ॥७॥

देहादयो ये परे कथितः तान् आत्मन्, मनुते ।

स वहिरात्मा जिन भणितः पुनः संसारे भ्रमति ॥८॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (देहादित) शरीर, मन, इन्द्रिय,
राग, द्रेष, क्रोध, काम, मद, लोभ, स्त्रो, पुत्र, मित्र, वस्त्र, शब्द,
महल, राज्य, सम्पत्ति-विपत्ति और मुख एवं दुःख (पर)
आत्मा से सर्वधा भिन्न (कहिया) कहे हैं (ते) उन वाण
पदार्थों को (अप्याल) अपने आत्माके (मुण्डे) समझता है
(सो) वह (वहिरप्या) वहिरात्मा-मिथ्या-श्रद्धानी (जिण)
जिनदेव द्वारा (भणित) कहा गया है (पुण) वही फिर बार-बार
(संसार) संसार में (भमेइ) परिप्रमण करता है ।

ठीका—जो कोई देहादिक विष्यै वा बाह्य चेतन असेनन पदार्थनि में अपनायन बहुद्वि धारै है। सो बहिरात्मा जिनदेव ने कहा है। बहुरि सो बहिरात्मा संसार में भ्रमण करै है। मावार्थ—जो जीव अज्ञान ते आप तै भिन्न शरीर विषै अहंबुद्वि धारै है तथा अन्य वस्तु में ममकार धरै है। ज्ञानादिक गुण, द्रव्य इन्द्रियनि करि भये माने हैं—चैतन्य तै रहित पुद्गल रूप परद्रव्य तिनके संयोग-वियोग तै सुख-नुःख हुवा माने हैं, सो बहिरात्मा संसार में निरन्तर भ्रमण करै हैं, जिनदेव ने ऐसा वर्णन किया है, सो जानो ॥१०॥

देहादियः जे पर कहिया ते अप्पाण य होइ ।

इउ जाणेविण जीव तुहुँ अप्प अप्प मुण्डे ॥११॥

देहादिकाः ये परे कथिता ते आत्मनो न भवन्ति ।

इति ज्ञात्वा जीव । त्वं आत्मना आत्माने मन्यस्व ॥१२॥

अन्वयार्थ—(देहादिय) देह, गेह, स्नेह आदिक (जे) जो पदार्थ (पर) जीव स्वरूप से सर्वथा पृथक् (कहिया) करे हैं (ते) वे पौदूगलिक पदार्थ किसी भी प्रकार (अप्पाण) आत्मा के अथवा आत्म हितकारी (ए) नहीं (होइ) हो सकते। (जीव) हे तीनों कलों में जीवित रहने वाले आत्मन् (तुहुँ) तू (इउ) यह (जाणेविण) जानकर (अप्पा) अपने द्वारा ही (अप्प) अपनी आत्मा को (मुण्डे) पहचान कर, भले प्रकार समझ ले ।

टीका—श्री गुरु कहें हैं भो भद्रा देहादिक
वास्तु जो पर कहे सो ये अपने न हो हैं। ऐसा
जानि कर हे जीव तू आत्मा ही को आत्मा जान।
भावार्थ—हे जीव तू ऐसा निश्चय कर, जे शरीरादिक
तथा चेतन अचेतन द्रष्ट्य हैं सो तीन काल में
अपने न होय हैं। ताही तें जिनदेव ने ये परद्रष्ट्य
कहे हैं। ऐसा समझ, आत्मा ही को अपना जान।
आत्मा विषेऽबस्थित रहना योग्य है ॥११॥

अप्या अप्पड जह मुण्ड तउ णिब्बाण लहेइ ।

पर अप्या अड मुण्डितुहुँ तषु रूपार अहेइ ॥१२॥

आत्मना आत्माने यदि मन्यसे ततः निर्वाणं लभ्यते ।

परं आत्माने यदि मनुषे त्वं ताहें संसार अमसि ॥१३॥

अन्वयार्थ—(अप्या) आत्मा से (जह) यदि (अप्पड)
आत्मा को (मुण्ड) तू पहचानेगा अर्थात् स्वतः अपने को ही
चैतन्य ज्ञानात्मक समझ कर वाय पौदूगलिक संसर्ग से निजात्मा
को भिन्न अनुभव करेगा (तउ) तो (णिब्बाण) निर्वाण
कहिये भोज को (लहेइ) प्राप्त कर लेगा और (जड) जो (पर)
आत्मातिरिक्त पदार्थों को ही (अप्या) आत्मा (मुण्डितु)
समझेगा (तउ) तो (तुहुँ) तू (संसार) संसार में (भमेइ)
परिव्रमण करेगा। अर्थात् पर सम्बन्ध को अपना मानने से
ही तू कर्मबद्ध होता रहेगा ।

टीका—हे भद्र ! तू आत्मा को आत्मा जान आत्म-
स्वरूप में प्रवत्तै तो निर्बाण (वंश रहित पद) ताहि पावै ।
जो पर दिवै आत्मा जानि मिथ्या तम कर व्यास
हुवा विभाव रूप परिणवै तौ संसार हो में अप्यण
करै । भावार्थ—हे आत्मन् ! पर भाव त्याग जो निज
रूप गहै तौ मोक्ष पद को प्राप्त होय और जो निज
स्वरूप तें च्युत होय पर जनित भाव रागद्वेष मोह
भावनि परणवै तौ पुनः पुनः निरन्तर भवावली तामें
रुलै । सो निःसंदेह मन में जान ॥१२॥

इच्छा रहियउत्थ करह अप्या अप्य मुणेहि ।

तउ लहु पावह परम गइ पुण संसार ण पहि ॥१३॥

इच्छा रहितस्तपः करोषि आत्मना आत्मानं मनुषे ।

ततो लघु प्राप्नोसि परम गति पुनः संसारे नाथासि ॥१४॥

अन्वयार्थ—तू (इच्छारहित) सर्व प्रकार की ऐहिक और
पारलौकिक विषय-वासना और कामनाओं से रहित होकर
(तब) तप (करइ) करेगा और (अप्या) अपसे आपको
ही (अप्य) आत्मा (मुणेइ) समझेगा अनुभव करेगा (तउ)
तो (लहु) शीघ्र ही (परम गइ) उल्कृष्ट मोक्ष गति को (पानड़)
प्राप्त कर लेगा । (पुण) और किर (संसार) जगन् में (ण)
नहीं (एहि) आवेगा ।

टीका—जो जीव इच्छा रहित तप करते हैं। आत्मा को आत्मा जान आत्माचरण रूप प्रवत्ते हैं सो जीव परमगति जो मोक्ष ताहि शीघ्र पावै है। भावार्थ—जो मुनि परभाव तज निज स्वरूप में लीन होय यिना इच्छा तप करते हैं सो निर्बन्ध पद ताहि शीघ्र पावै हैं, वहुरि संसार में नहीं रहते हैं ॥२३॥

परिणामह वंधु जि कहित मोक्षजि तह जि विद्याण ।
इव जाणेविद्या जीव तुहु तह भावहि परियाण ॥२४॥

परिणामैर्वधोऽपि कथितः मोक्षोपि तेरेव विजानीहि ।

इति ज्ञात्वा जीव । त्वं तान् भावान् परिचानीहि ॥२५॥

आन्वयार्थ—(परिणामह) (शुभाशुभ) परिणामों से (वंधु) कर्म-बन्ध (जि) भी (कहित) होना कहा है और (तह जि) परिणामों (शुद्ध भावों) से ही (मोक्ष) मोक्ष भी होना (विद्याण) जानना चाहिये । (जीव) हे आत्मन् (इह) यह शुभाशुभ बन्ध और कर्म-मुक्ति के कारण परिणामों को ही (जाणेविद्या) जानकर, (तुहु) तू (तह भावहि) उन्हीं शुद्ध भावों के ज्ञान और अनुभव में (परियाण) प्रयत्न कर।

टीका—हे भाई ! एक परिणाम ही तें बंध है तथा परिणाम ही तें निर्बन्ध कहिये मोक्ष है । ऐसा जिनदेव ने कहा है । सो जानि कर प्रधानपने भावना को बंध मोक्ष का कारण जान यह रूप

प्रबर्तना । मावार्थ—शरीरादिक वाल्य वस्तु चेतन अचेतन सर्व का संयोग-वियोग बंध मोक्ष का कारण नहीं, एक आत्मा का निज भाव सो ही मोक्ष का कारण है और निज भाव का विपर्यय जो परभाव सो बंध का कारण है। ताहे आत्म स्वरूप गहि निजभाव का उत्तर करता ॥१५॥

अह पुण अप्या णवि मुण्डि पुण्यापि करइ असेसु ।
 तउवि णु पावह सिद्ध लुहु पुण संसार भमेसु ॥१५॥
 अथ पुनरात्मानं नापि मनुषे पुण्यमपि करोपि अशेषम् ।
 तथापि न प्राप्नोसि सिद्धसुखं पुनः संसारे भूमसि ॥१५॥

अन्वयार्थ—(अह) अब यह वतलाया जाता है कि यदि कोई (पुण) फिर भी (अप्या) आत्मा को आत्म स्वरूप सं (ण) नहीं (मुण्डि) जानता है (वि) परन्तु (असेसु) बहुत-शेष रहित (पुण्यापि) पुण्य को (करइ) करता है (तउ वि) तो भी (सिद्धसुहु) निरावाय सिद्ध सुख मुक्त्यानन्द को (णु) नहीं (पावह) प्राप्त करेगा। और (पुण) फिर संसार में ही (भमेसु) अमरण करता रहेगा। अर्थात् आत्मज्ञान विना पुण्य कर्म करना भी संसार का ही कारण है। अतः मोक्ष प्राप्ति के लिए आत्मानुभूति का ही सतत आराधन करना चाहिये।

टीका—जो आत्मभाव ते विसुख हुए आत्म स्वरूप को नहीं जाने हैं, पुण्यकर्म सम्पूर्ण करै हैं

तौ भी सिद्ध सुख ताहि नहीं पावे है । संसार ही में
निरन्तर भ्रम है । मात्रार्थ—आत्म ज्ञान विना सर्व
वाल्य किया, पुण्योपर्जन आदि मोक्ष के साधन
नहीं हैं, संसार ही के कारण हैं ॥१५॥

अप्या दंसण इक परु अण्णु ण कि पि वियाण ।

मोक्षद्व कारण जोइया गिच्छद्व पहुँच जाण ॥१६॥

आत्मदर्शन एके परे अन्यत् न किंचिदपि विजामीहि ।

मोक्षस्य कारणं योगिन् ! निश्चयेनैतत् जानीहि ॥१७॥

अन्वयार्थ—(जोइया) हे योगीश्वर (अप्यादंसण) आत्म-
दर्शन को ही (इकक) एक कल्याण का मार्ग समझो । (परु)
किसी और (अण्णु) दूसरे को सुखकारी (ण) मत (वियाण)
समझो । (गिच्छद्व) निश्चय से (पहुँच) यही (मोक्षद्व)
मोक्ष का (कारण) कारण (जाण) समझो । अर्थात् आत्म-
दर्शन, आत्मलीनता, आत्म ध्यान, आत्मानुभव और आत्म-
ज्ञान ही मोक्ष का कारण है । केवल आत्मा की ही मुक्ति होती
है । और अकेला आत्मा ही सिद्धालय को प्राप्त करता है इसलिये
सर्वदा आत्मा का ही सर्व पदार्थों से भिन्न चिन्तन करना
चाहिये । इसीसे संसारस्थ प्राणी को कैवल्य और निर्वाण
प्राप्त होगा ।

टीका—श्री गुरु कहे हैं । एक आत्म का अव-
लोकन ही परमात्म पद का कारण है । अन्य कोई
मत जानो । मोक्ष का कारण यही जानना, निश्चय

नय से कथन जानि श्री जिनदेव ने कहा है । भावार्थ—
मुक्ति आत्मा की शुद्ध अवस्था है । वह आत्मा के
शुद्ध स्वरूप का अधान, ज्ञान, आचरण-अनुभवन
करने से प्राप्त होती है । देव पूजा, भक्ति-आदि
दूसरे की उपासना से पुण्य होता है वह बंध हो
का कारण है । पर का ध्यान पररूप है उससे स्वरूप
की प्राप्ति नहीं हो सकती ऐसा निश्चय नय से
भगवान ने कहा है ॥१६॥

मगण गुण ठाण्ड कहिया व्यवहारेण विदिट्ठि ।

गिच्छइण्ड अप्पा मुण्डु जिम पावहु ररमेट्ठि ॥१७॥

मार्गणागुणस्थाननि कथितानि व्यवहारेण अषि हष्टिम् ।

निश्चयनयेन आत्मानं मन्यस्त येन प्राप्तोषि परमेष्ठिनस् ॥१८॥

अन्वयार्थ—(मगण गुणठाण्ड) मार्गण और गुण
स्थान (व्यवहारेण) व्यवहार नय से (कहिया) कथन किये
गये हैं । (गिच्छइण्ड) निश्चयनय से (अप्पा) आत्मा ही को
(मुण्डु) जानो (जिन) जिससे कि (परमेहि) परमेष्ठि पद
को (पावहु) प्राप्त करो ।

टीका—व्यवहार नप ते गति जाति आदि
मार्गण वा औदह गुणस्थाननि विषें जीव का वर्णन
जिनदेव ने कहा है, अरनिश्चय नयते आत्मा
आत्म स्वरूप में जाने तो परम-इष्ट पद जो निज

स्वभाव को पूर्णता ताहि प्राप्त होय । याते यह जीव विभाव भावनि का जब त्याग करे निज स्वरूप को गहै तब हो निज गुणन की परिपूर्णता रूप जो सिद्ध पद ताहि प्राप्त होय है । मात्रार्थ—जिसमें वा जिसके द्वारा जीव अन्वेषण किये जाते हैं उसे मार्गणा कहा है । और जिसके द्वारा जीव के परिणाम और स्वाभाविक एवं वैभाविक गुणों का प्रतिबोध होता है उसे गुणस्थान कहते हैं । मार्गणा के गति, हन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेस्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञि आहार ऐसे १४ भेद हैं । और मिथ्यात्व, सासादन, मिथ्र, अविरत, सम्यक्त्व, देश विरत, प्रमत्त विरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्व करण, अनिवृत्ति करण, सूक्ष्म-साम्पराय, उपशान्तमोह, त्वीणमोह, संयोग केवली, अयोग केवलो ऐसे गुणस्थान के १४ भेद हैं । वह सब जीव को जानने के साधन व्यवहार नय से है निश्चय नय से सर्व विकार भावों से रहित केवल शुद्धात्मा का ध्यान ही आत्म स्वरूप की प्राप्ति का मुख्य साधन है । परमेष्ठी स्वरूप निज आत्मा का ध्यान ही भव्यात्मा को परमेष्ठी बना देता ॥१७॥

गिहवाचार परटुआ हेयाहेड मुण्ठंति ।

आणुदिणु भायड देउ जिणु लहु खिव्वाण लहंति ॥१८॥

गुहव्वापारे परिस्थितः हेचादेयं मन्त्रते ।

अनुदिने ध्यायान्ति देवं जिने लघु निर्वीणं लभते ॥१९॥

अन्ययार्थ—जो प्राणी (गिहवाचार) गाहस्थक जीवन और आरम्भ उच्चोग आदि व्यापार में (परिद्विया) स्थिर होते हुए भी ग्रहस्थाश्रम सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना करते हुए भी (हेयाहेड) त्याज्य और प्राण को भले प्रकार (मुण्ठंति) समझते हैं। अर्थात् पाप में अरुचि और धर्म में प्रीति करते हैं (आणुदिण) प्रतिदिन (जिणुदेउ) जिन देव का (भायड) ध्यान करते रहते हैं वे (लहु) बहुत शीघ्र ही (खिव्वाण) निर्वीण को (लहंति) प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् सद्ग्रहस्थों के संपूर्ण ब्रत पालते हुए और गृहकंभटों में चित्त देते हुए भी जो प्राणी आत्मोन्तति के अभिलाषी होकर आत्म हित संपादक पदार्थों में रुचि और अहितबद्धक पदार्थों से विरक्त रहते हैं, सामायिक स्वाध्यय द्वारा जिन देव स्वरूप निज आत्मा का आराधन करते हैं। उन्हें स्वरूप प्राप्ति रूप मुक्ति शीघ्र मिल जाती है।

टीका—जो जीव ग्रहस्थाश्रम में रहता हुवा भी परवस्तु तथा परवस्तु से ममत्व भाव को छोड़ के निज स्वरूप गहि निश्चल होय आत्म-स्वभाव में परिपूर्ण हुवा तिष्ठा है। हेय भावनि का त्याग उपादेय का गृहण करता रात्रि दिन जिनदेव को

ध्यावै है । सो जिन पद को पाय निर्बाण पद ताहि प्राप्त होय है । भावार्थ—जो अन्तरात्मा सम्प्रदृष्टि लभाल जो चौदशिक भाव वित्तरात्मपने के भाव ताहि त्याग वात्य अन्तरंग परिग्रह छोड़ मुनि हो निज भाव जो शुद्ध वीतरागता ताहि गहि हेय उपादेय भाव को जान आत्म स्वरूप में तिष्ठि आत्म-भाव ध्याय निश्चल अकंप तिष्ठा है । सो जीव देह का देव जो गुरु अरहंत जिन ताकूं प्राप्त होय बहुरि मोक्ष को जाय तब परमात्मा होय है ॥१८॥

जिण सुमिरहु जिण चिन्तवहु जिण भावहु सुमिणेण ।
तं भायंतह परम एउ लभमइ इकखण्येण ॥१९॥

जिनं स्मर जिनं चिन्तय जिनं ध्याय सुमनसा ।

तं ध्यायमानः परम पदं लभते एकहणे ॥२०॥

अन्वयार्थ—भो आत्म कल्याणिन् ! सर्वदा (सुमणेण) विशुद्ध एवं निर्विकार भन से (जिण) श्रीमज्जिनेन्द्र अहंतेवली को (सुमिरहु) स्मरण करो (जिण) धाति चतुष्क विरीहन् समवशरण लक्ष्मी सहित जिनदेव का (चिन्तवहु) चिन्तवन करो । (जिण) अठारह दोपों से हीन और अनन्त चतुष्टय में लीन परम विमु जिन भगवान् का ही (भावहु) ध्यान करो । (तं) उन वीतराग हितोपदेशक सर्वतत्वज्ञ जिनेन्द्र को (भायंतह) ध्यान करता हुआ प्राणी (एकखण्येण) एक ज्ञान में अल्प

समय में ही (परम पद) परम शोद पद के (लाभहि) लाभ कर लेता है ।

टीका—श्री गुरु घोगिचन्द्र आचार्य ग्रन्थकार्ता हित का उपदेश करते हैं । हे भाई श्री जिनदेव को सुमिरौ श्री जिन को चिन्तवौ बहुरि श्री जिन को ध्यावो । शुद्ध मन तें जो शुद्ध स्वरूप निज भाव ताहि गहि ध्यान में लीन होय निज आत्मा को ध्यावै, तो एक ज्ञाण में परमात्म पद ताहि पावै । **भावार्थ**—तीव्र कषाय रूप अशुभ भाव ताहि त्याग विशुद्ध परिणामनि के कारण जो अरहंत जिन वीतराग परमात्मा शुद्ध बुद्ध भगवान् निनका स्मरण, चिन्तवन, ध्यान, स्तुति, भक्ति, वंदना करि बहुरि निःकषाय शुद्ध वीतराग भावरूप जो निज भाव, परभाव ते रहित साहजिक परिणति ताहि परिणवै । आत्म भाव में तखलीन-गङ्गा होइ सोई एक समय में परम गति ताकूं पावै है ॥१६॥

सुहृद्या अरु जिल्लवरहं भेडण कि वि वियाण ।

मोक्षाइ कारण जोह्या शिच्छइ एउ वियाण ॥२०॥

शुद्धात्मानि च जिनवरे भेदं मा किमपि विजानीहि ।

मोक्षस्य कारणं यागिन् । निश्चयेण एतत् विजानीहि ॥२०॥

आन्वयार्थ—(सुहृष्टा) शुद्ध आत्मा (अरु) और (जिग्नवरह) जिन देव में (किं वि) कुछ भी (भेद) भेद (ए) नहीं (विश्वाण) समझना चाहिये । और हे योगी (हित्यज्ञ) निश्चय से (मोक्षवह) मोक्ष का (कारण) कारण (पत्र) यहीं (शुद्ध आत्मा और परमात्मा में अभेद हस्ति) (विश्वाण) जानना चाहिये ।

टीका—परमात्मा पद को प्राप्त हुए-जिनदेव-में और मोहनीयादि कर्म मल व राग द्वेषादि-भावमल से रहित शुद्ध आत्मा में कोई अन्तर नहीं है । शुद्ध आत्मा को ही जिनदेव, और जिन-देव को ही शुद्धात्मा-परमात्मा जानना चाहिये । ऐसा अधान ज्ञान और तदरूप आचरण-शुद्धात्म-ध्यान सहित रागद्वेषादि का त्याग रूप आचरण ही निश्चय से मोक्ष मार्ग समझना चाहिये । **भावार्थ—**मोक्ष प्राप्ति के लिये शुद्धात्मस्वरूप निज आत्मा को अनुभवन करते हुए रागादि मल नाश करने का प्रथम करना चाहिये ॥२०॥

जो जिणु से। आप्ता मुखद्वृ इदं सिद्धन्तहु साकु ।
इदं जाणेविण जोहयहु छन्दहु यामाचार ॥२१॥

मो जिनः तं आत्मानं मत्यस्व एवः सिद्धान्तस्यसारः ।
इति ज्ञात्वा योगिन् । त्यज मायाचारम् ॥२२॥

अन्वयार्थ—जो (जिणु) अहंतरमेष्ठी मनोजयी कर्म बिजेता श्री जिनेन्द्र है (सो) वैसा ही (अप्या) आत्मा भी है। (इह) यह (सिद्धान्तहु) जैन सिद्धान्तका (सार) निचोड़ है। (इह) यह (जाणेकिण) ज्ञानकर (जोइयहु) है योगिन्! तुम (मायाचारु) छल कपट-पूर्ण व्यवहार का (छंडड) छोड़ दो।

टीका—जो जिन सोई शुद्ध आत्मा जानो। यही सिद्धान्त का सार भूत रहस्य है। यही ज्ञानकर जिन स्वरूप सदृश शुद्ध निज आत्मा देखो। मायाचार छोड़ जिन स्वरूप और शुद्धात्मा में भेद नहीं देखना। भावार्थ—आत्मा ही ज्ञानावरणादि कर्म एवं रागादि दूर करने से जिन देव हो जाता है और शक्तित्व अपेक्षा आत्मा सर्वतोभद्र त्रिलोक विभु है। जैन सिद्धान्त जीव मात्र को परमात्मत्व शक्ति से विभूषित मानता है। शक्ति अपेक्षा, निरचय नय से (द्रव्य दृष्टि से) प्रत्येक आत्मा चैतन्य ज्योति मय शुद्ध बुद्ध चिदानन्दघन है। संसारावस्था में पौदुगलिक कर्मादि के निमित्स से उसकी पर्याय मलिन हो रही हैं। सो जिस समय स्वरूप को यथार्थ जान अनुभवन कर ध्यान में ध्यायता है तब उन कर्मों का नाश कर मलिनता, विभाव

भावों को दूर कर शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। निजपद जो जिनपद उसे पा जाता है। इसलिये निश्चय से जैसा जिन देव वैसा ही आत्मा है। शरीरादि में आत्म बुद्धि रूप आचरण जो मायाचार पूर्ण है उसे छोड़कर निजरूप के अनुभवन का ही आचार्य उपदेश करे हैं ॥२१॥

जो परमप्या सो जि हडं जो हडं सो परमप्यु ।

इम जाणेविल जोइया अट्टा म करहु विष्यपु ॥२२॥

यः परमात्मा स एव अहं योऽहं स परमात्मा ।

इति ज्ञात्वा योगिन् अन्यन्मा कार्षीः विकल्पम् ॥२२॥

अन्वायार्थ—(जो) जो (परमप्या) परमात्मा है (सो) वह (जि) ही (हडं) में हूँ और (जो) जो (हडं) में हूँ (सो) वही (परमप्यु) परमात्मा है। (इम) यह (जाणेविल) जानकर (जोइया) हे योगिन् ! (अट्टा) कोई दूसरा (विष्यपु) विकल्प-चिन्तवन (म) मत (करहु) करो ।

टीका—हे योगी ! जो परमात्मा सो जीव जो जीव सोई परमात्मा, इसमें भेद किंचित नहीं। यह जानकर आत्म स्वरूप गहि अन्य विकल्प मत करहु जथ जीव आपही अपने स्वरूप से आप ही आप में मगन होय तब आप अपने पूर्ण परम तत्त्व को प्राप्त होय है ॥२२॥

सुद्धपरसह पूरियउ लोयायास पमाणु ।

जो अप्पा अणुदिण मुण्डु पाथह लहु निवाणु ॥ २३ ॥

शुद्ध प्रदेशैः पूरितः लोकाकाश प्रमाणः ।

तं आत्मानं अनुदिनं मन्यस्व प्राप्नोसि लघुनिर्वाणम् ॥ २३ ॥

अन्त्यार्थी—(अप्पा) आत्मा (सुद्धपरसह) शुद्ध प्रदेशों से (पूरियउ) पूर्ण है । (लोयायास प्रमाण) लोकाकाश के प्रमाण (सो) उस आत्मा को (अणुदिण) प्रतिदिन (मुनहु) विचार करो । इससे (लहु) शीघ्र ही (गिर्बाणु) मोह को (पावइ) प्राप्त करोगे ।

टीका—शुद्ध प्रदेश करि पूरित लोकाकाश प्रमाण आत्मा जानो । ताहि रात दिन ध्यावो । जिससे हे योगीश्वर ! निर्वाण पद शीघ्र पावो । भावार्थ—यह जीव निश्चय नयतें असंख्यात प्रदेश मात्र लोकाकाश के प्रमाण घैतन्य गुण करि पूरति शुद्ध, अमूर्तीक, जड़ता रहित घैतन्य ज्योति चिदानन्दघन जानना चाहिये । उसी को स्वर्संबेदन द्वारा अनुभव में लाने से शुद्ध पद की प्राप्ति होगी । इस लिये रात दिन निरन्तर विकल्प रहित होकर ध्यावौ तो निर्वाण पद को थोड़े काल में प्राप्त होगे ॥ २३ ॥

गिर्बाइ लोय प्रमाण मुण्डि ववद्वारइ सुसरीइ ।

एहु अप्प सहाइ मुण्डि लहु ववद्वु पवतीइ ॥ २४ ॥

निश्चयेन लोक प्रमाणं मन्यस्व व्यवहरेण स्वशरीरम् ।

इमे आत्मस्वभावं मन्यस्व लघु प्राप्नोसि भवतीरम् ॥२४॥

अत्त्वायार्थ—(पिञ्ज्जइ) निश्चय से आत्मा (लोकप्रमाण) लोकाकाश के प्रमान असंख्यात् प्रदेश वाला है । (व्यवहर) व्यवहार दृष्टि से (सुसरीक) अपने शरीर प्रमाण है । (एहउ) यह (अप) आत्मा का (सहाउ) स्वभाव (मुणि) अनुभव करो । जिससे कि (लहु) शीघ्र ही (भवतीक) संसार-सुद का किनारा अर्थात् मोक्ष का (पावहु) पा लेवो ।

टीका—निश्चय नयते आत्मा लोक प्रमाण प्रदेश को धारे है और व्यवहार नयते शरीर प्रमाण है । इस भाँति आत्म स्वभाव को भावो । जिससे लघु काल में संसार के तीर पहुँचौ—मोक्ष प्राप्त होय । भावार्थ—हे आत्मन् ! शरीरमात्र प्रदेश-नि को व्यवहार नयते संकोच विस्तार निज शक्ति ते धारक कहिये है । निश्चय नयते लोक प्रमाण असंख्यात् प्रदेश मात्र का धारक निज आत्मा को भाव, देह बुद्धि का त्याग कर स्वसंबेदन से आत्म स्वभाव को गहि । ज्यों लघु काल में पूर्ण पद जो मोक्ष ताहि प्राप्त होय ॥२४॥

चडरासी लक्खह फिरिड काल बैणाइ अण्ठु ।

एर समत्त खलहु जिड सहउ जाणि खिभंतु ॥ २५ ॥

चतुरशीतिलक्षे भूमितः कालमनादयनन्तम् ।

परं सम्यक्त्वं न लब्धे एतत् जानीहि निभूमितम् ॥२५॥

अन्वायार्थ—मोहशृङ्खलाबद्व जीव ! तू (चउरासी लक्ष्यह) चौरासी लाख योनियों में (फिरिउ) शूमता किया है और (अणाइ) अनादि से लेकर आज तक अणांतु अनन्त (काल) समय ब्यतीत हो गया । (पर) परन्तु (जिउ) हे जीव ! तूने (समत्त) सम्यग्दर्शन (ए) नहीं (लहु) प्राप्त किया है । इसीलिये संसार भूमण से नहीं छूट सका है । (एहउ) यह बात (लिमनु) आन्ति रहित-सत्य (जाणि) समझो !

टक्का—हे आत्मन् ! अनादि काल ने अनन्त काल पर्यन्त इस संसार की चार गति चौरासो लाख योनियों में भ्रमण करता संता यह जीव एक सम्यक्त्व लब्धि जो शुद्धात्मानुभव ताहि न पावना महा दुखी हुआ है । यह कथन निश्चयते निःसन्देह जान । **भावार्थ—**यह जीव सम्यक्त्व लब्धि बिना अनादि कालते भ्रमण करै है । जो आत्मा सम्यक्त्व लब्धि को पावे तो संसार में काहे को भ्रमै । याते आत्मा के शुद्ध भाव को भावो । उपो मोक्ष पावो । संसार परिभ्रमण का मुख्य कारण सम्यग्दर्शन का अभाव ही है । सम्यग्दर्शन के लाभ होने पर तो संसार भ्रमण का स्वय-

(३८)

मेव अभाव हो जाता है । ऐसा विचार कर शीघ्र-
तर सम्यक्त्व प्राप्ति के सदुपायों में दक्ष चित्त हो
सुखी हो जाना चाहिये ॥२५॥

शुद्ध सचेयण शुद्ध जिणु केवलज्ञान सहाड़ ।
सो अप्पा अणुदिणु मुण्हु जह चाहउ सिव लाहु ॥२६॥

शुद्धः सचेतनः बुद्धः जिनः केवलज्ञान स्वभावः ।
तं आत्मानं अनुदिनं मन्यस्व यदीच्छासि शिवलाभं ॥२७॥

अन्वयार्थ—आत्मा (शुद्ध) कर्म-मल और राग द्वेष
मोहादि से रहित है अतः शुद्ध है । (सचेयण) ज्ञान, दर्शन
मई चेतना अथवा ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्म-कल चेतना
से संयुक्त होनेसे सचेतन है । (बुद्ध) लोकालोक प्रकाशक
केवल ज्ञान का धारी है इसलिये बुद्ध है । (जिणु) कर्म शत्रु,
विषय कषाय, इन्द्रिय, मन और राग द्वेष मोहादिक को जीत
लेने से जिन है (केवलणाण सहाड़) वास्तव में शुद्ध निरचय
लय से स्वाभाविक केवल ज्ञान का त्रैकाल्य में अधिष्ठित है । अतः
सर्वदा अनन्त विज्ञान स्वभावमय है । (यो)ऐसे (अप्पा)
आत्मा को (अणुदिणु) प्रतिदिन (मुण्हु) मन में ध्यान करो ।
(जड़) यदि (मिव) मोह के (लाहु) लाभ को (चाहउ)
चाहते हो ।

टीका—हे आत्मन् ! जो शुद्ध चैतन्य शुद्ध जिन
केवल ज्ञान स्वभाव का धारी सो ही आत्मा प्रति-
दिन निरन्तर अनुभव करै, ध्यान करै तो लघुकाल

में मोक्षाभिलाषी मोक्ष के लाभ को प्राप्त होय ।
 मात्रार्थ—कर्म जनित जो संसार अवस्था ताकर
 रागी द्वेषी मोही कहिये । अर निश्चय नय विषें
 यह आत्मा भावकर्म, द्रव्यकर्म, नौ कर्म तिन तें
 रहित शुद्ध निर्मल चेतनमात्र है । महाज्ञानी है ।
 विभाव और कर्म का जेता जिन है । केवल ज्ञान
 केवल दर्शन स्वभाव का धारी है । सो ही आत्मा
 निर्मल भाव तें निरन्तर रात्रि दिन भावौ जो मोक्ष
 का लाभ किया चाहो हो । आगे भरत चक्रवर्ती
 आदिक निज शुद्ध आत्मा के अनुभव करि अन्त-
 मुहूर्त काल में कर्म खिपाय अरहन्त पदपाय मोक्ष
 जाय विराजै सो कहे हैं ॥२६॥

जाम ण भावहु जीव शुद्ध गिम्मलअप्प सहाइ ।
 ताम ण लभइ सिवगमणु जहि भावहु तहि जाइ ॥२७॥

यावन्त भावयासि जीव त्वं निर्मलात्मस्वभावम् ।
 तावन्त लभते शिवगमनं यत्र भातु तत्र याहि ॥२८॥

अन्वयार्थ—(जीव) हे प्राणि (तुहुँ) तू (जाम) जब तक
 (गिम्मल अप्प सहाइ) विशुद्ध आत्म स्वभाव को (ण) नहीं
 (भावहु) भावेगा । (ताम) तब तक (सिवगमणु) मुक्ति लाभ
 (ण) नहीं (लभइ) कर सकेगा । (जहि) जहाँ (भावहु) जी

चाहे (तहिं) वहाँ (जाऊ) जाओ । अर्थात् विशुद्धात्म स्वभाव के चिन्तवन किये बिना मुक्ति लाभ नहीं हो सकता ।

टीका—हे जीव जय तक तू निर्मल भाव तें
शुद्ध आत्म स्वरूपको न भावें तब तक अन्ध रहित
मोक्ष पद ताकी लिंग को नहीं पायेगा । तातें प्रारम्भ
में अशुभ का त्याग करि शुभ क्रियाओं को पाल,
बहुरि शुभ क्रियानि को भी अन्ध का कारण जानि
तिनसें ममत्व बुद्धि त्यागै अरु राग-द्वेष, मोह तें
रहित, शुद्ध निर्मल आत्म-स्वरूप को ध्यावै । जानन
देखन मात्र वीतराग उदासीन रूप गहे तो
सिद्ध सुख होय । अन्यथा नहीं । भावार्थ—शुद्धता
का कारण शुद्ध का ध्यान है । जय तक आत्मा
अपने स्वरूप का विचार नहीं करे है, स्वरूप को
नहीं पावे है । चाहें कुछ भी जपतपादि वाल्मीकिया
करते रहो । तातें मोक्षाभिलाषी को हिंसादि पाप,
व्यस्नादि अन्याय, पापों का सर्वथा परित्याग कर,
वाल्मीकि शुभ क्रियाओं को भी, अन्ध ही का कारण
जान ममत्व रहित परिणामों से, केवल शुद्धता
का कारण जानते हुए करना चाहिए और शुद्ध
आत्मा के ध्यान का अभ्यास बढ़ाना चाहिए ॥२७॥

जो तदलोयहू भेड़ जिणु सो अप्पा गिरु चुन्तु ।

गिन्छरणम् एमड़ भणिड़ एहड़ जाणि गिमन्तु ॥२८॥

यः त्रिलोकस्य व्येयो जिनः स आत्मा निजः उक्तः ।

निश्चयनयेन एवं भणितः एतज्ञानीहि निभ्रान्तम् ॥२९॥

अन्वयार्थ—(जो) जो पवित्रात्मा (तदलोयहू) तीन लोक के ग्राणियों द्वारा (भेड़) ध्यान करने योग्य है । (सो) वह (अप्पा) आत्मा (जिणु) अर्हन् बीतराग है और वह (गिरु) निजात्मा (चुन्तु) बतलाया है । (गिन्छरणहू) निश्चय नय से (एमड़) इस प्रकार (भणिड़) वर्णित किया है । (एहड़) यह वात (गिमन्तु) निभ्रान्त होकर (जाणि) जानो ।

टीका—जो तीन लोकनि में ध्यानी ज्ञानी जीवनि को ध्यान विषै ध्यावने योग्य-ध्येय-जिन देव है सोई हे योगी ! निज आत्मा जिन सूत्र में कहा है । यह कथन निश्चय नयते ऐसा कहा है सो सत्यार्थ निभ्रन्ति पने ऐसे ही जान । **भावार्थ—**यह आत्मा यथापि अनादिते कर्मनि करि आच्छादित हुई व्यक्त न होय है । तथापि द्रव्य का गुण द्रव्य में है । कही जाता नहीं रहे तातै निश्चय व्यक्त नहीं तो भी नयते शक्ति अपेक्षा कहिये हैं । जो अरहन्त, जिन, ध्येय, सोई शुद्ध आत्मा या में सन्देह नाहीं ॥२८॥

वय तथ संज्ञम मूल गुण मूढ़ह मोक्ष गिरुन्तु ।

जाम ण जाणह इक परु सुद्ध सुभाव पवित्र ॥२९॥

वृत्तपः संथम मूलगुणे मूढिमोक्षो निरुक्तः ।

वाचन जानाति एकं परं शुद्धस्वभावयवित्रम् ॥ २६॥

अन्वयार्थ—(मूढ़ह) मूखं प्राणियों ने (वय) व्रत (तप) तपश्चरण (संयम) इन्द्रियनिग्रह और प्राणिसंरक्षण के भेद से दो प्रकार का संयम (मूल शुण) मद्यादि विरति रूप आवकों के द अथवा अहिंसादि मुनियों के दूसरे मूलगुणों के पालन करने मात्र से ही (मोक्ष) मोक्ष (णिवृत्तु) मान रखती है । परन्तु वास्तव में वात यह है कि (जाम) जब तक (इक्क) एक (शुद्ध मुभाव पवित्र) शुद्ध स्वभाव से पवित्र (पर) परमात्मस्वरूप निज आत्मा को (ए) नहीं (जाणइ) जानता है । तब तक मोक्ष की प्राप्ति आकाशकुसुमवत् है ।

टीका—हे योगी ! पाँच व्रत, बारह संयम, अद्वाईस मूलशुण तथा चौरासी लाख उत्तर शुण ये समस्त मुनि सम्बन्धी वाह्य व्यवहार धर्म क्रिया सो अन्तरंग की शुद्धता बिना मोक्ष के हेतु निमित्त जिन देव मे नहीं वरणे । कौन कारण करि ? जब लग एक शुद्ध भावते निज आत्म स्वरूप को न जानै तब लग निज पद की उत्कृष्टता को न प्राप्त होइ है । भावार्थ—वाह्य शरीराश्रित क्रिया अन्तरंग के शुद्ध भाव बिना निर्बन्ध को नहीं करै है । अर्थात् बन्ध को ही करै हैं । यह सब निज शुद्धात्मतत्त्व के ध्यान के साधन मात्र है । साध्य-निज

शुद्ध स्वरूप-की प्राप्ति का साधन समझ कर इनको
अङ्गीकार करना चाहिए ॥२६॥

जो शिम्मल अप्पा मुण्ड वय संजमु संजुतु ।

तड लहु पावइ सिद्ध सुह इहु जिणणाहह बुतु ॥३०॥

थो निर्मलं आत्मानं मनुते वृत्संयमसयुक्तं ।

स लघु प्राप्तोति सिद्ध सुख इति जिननाथीहस्तम् ॥३०॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (वय संजमु संजुतु) ब्रत संयम
सहित (अप्पा) आत्मा को (शिम्मल) निर्मल (मुण्ड) विचार
करता है । (तड़) वह विघुद्वात्मा (सिद्ध सुह) सिद्धात्मा के
सुख को (लहु) शीघ्र ही (पावइ) प्राप्त कर लेता है । (इउ)
ऐसा (जिणणाहह) जिननाथ श्री अहंत् परमेष्ठी ने (बुतु)
कहा है ।

टीका—हे योगी ! जो निर्मल आत्मा को अनु-
भवै, जाने, ब्रत संयम शील गुण संयुक्त होय, तो
लघु काल में सिद्ध सुख पावै । यह कथन जिन-
नाथ ने कहा है । सो अवधारण करो । निःसन्देह
जानो । **भावार्थ—**जो मुनिराज अन्तरंग शुद्ध निर्मल
भावते आत्मा को अनुभवै । वाहा मुनि की क्रिया
साधानी तें पालै है । ममत्व नहीं राखै है ।
उपर्योग खेंच करि शुभ क्रियानि में नहीं फँसावै
है । सोई सिद्ध सुख को लघु काल में पावै है

तात्त्व—यह है जो आत्मा के तीन प्रकार के परिणाम हैं। शुभ, अशुभ और शुद्ध। जो धर्म के अङ्गनि विषें अनुराग, अधर्म के अङ्गनि विषें द्वेष, मन्द कषाय रूप परिणाम सो तो शुभ। इसमें विपरति सो अशुभ। दोनों से रहित शुद्ध। शुभ अशुभ भाव मोह जनित परभाव-संसार के कारण जानि, हेय मानि त्याग, निज भाव-निर्मल शुद्ध आत्म जनित भाव-उपादेय, गहि, अकम्प निर्विकल्प शुद्ध तत्त्व को ध्यावै सोई सिद्ध पद को पावै। यद्यपि व्यवहार नयते मुनि सम्बन्धि किया मोक्ष साधन निमित्त कहीं। नथापि निर्विकल्प तथाते आत्मा अपने शुद्ध निर्मल भाव ही के निमित्त तथा उपादान ते आप ही अपने आत्मा को शुद्धता में धारै है। आप ही बन्ध रूप होगा। आप ही मोक्ष रूप होय है ॥३०॥

बय तप सजमुसीलु जिय ए सब्बे अकाल्यु ।

आम ए जाहुर इकक एहु छुद्ध सुभाव पवित्रु ॥३१॥

बूततप; संयम शीलानि जीव ! एतानि सर्वाणि व्यथानि ।

यावन्न जानाति एकं परं शुद्धस्वभावपवित्रम् ॥३२॥

अन्वयार्थ—(जिय) हे जीव ! (जाम) जब तक (इकक) एक (पर) परम (शुद्ध सुभाव पवित्र) शुद्ध स्वभाव

मय आत्मा को (ए) नहीं (जाणइ) जान लेता है । तब तक (ए सबवे तथा उप संज्ञातीलु) व्रत, तप, संयम, शील आदि सर्व गुण धारण करना (अकड़त्थु) अकार्थ, बयर्थ, निष्कल हैं ।

टीका—व्रत, तप, संयम, शील, गुण ये सर्व व्यवहार धर्म हैं जो आत्मज्ञान शून्य अकार्थ हैं । जब तक निज आत्मा को शुद्ध भावते पवित्र होय नहीं जाने तब तक आत्म सुख की पूर्णता जो मोक्ष ताहि नहीं प्राप्त होवै । ताते हे भवय जीव ! व्रत, तप, संयम, शील, सन्तोषादिक सर्व शुभोपयोग के साधन भाव व्यवहार नयते मोक्ष के कारण कहे हैं । तथापि जब लग निज शुद्ध परमात्मा को शुद्ध भावते पवित्र मन करि न जानिये । परमात्मा को न अनुभविये । तब लग मोक्ष स्वरूप निज हित ताहि न प्राप्त होय । कौन हेतु ? पर जनित भाव निज स्वभाव की व्यक्तता के कारण नाहीं होय । ताते आत्म ज्ञान शून्य व्यवहार जप, तप, शील, संयम, व्रत, आवश्यक आदि आचरण मोक्ष के निमित्त नहीं, संसार ही के कारण हैं । ताते अकार्थ हैं, कार्यकारी नहीं ॥३१॥

पुण्यइ पावइ समा जिय पावइ शिरय निवास ।

वे छंडिवि आप्पा मुण्ड तड़ लभ्मइ सिववासु ॥३२॥

पुण्येत प्राप्नोति स्वर्ग जीवः पापेन निरयनिवासं ।

द्वौ त्यजत्वा आत्मानं मनुते तेन लभ्यते शिववासः ॥३२॥

अन्वयार्थ—(जिय) जीव (पुण्यइ) पुण्य कर्म से (शास्त्र) स्वर्ग (पावइ) प्राप्त करता है और (पावइ) पाप से (निरयनिवास) नरक में जाता है। (वे) दोनों को ही (छंडिवि) छोड़ कर (आप्पा) आत्मा का यदि (मुण्ड) ध्यान करता है। (तड़ा) तो (सिववासु) मोक्ष को (लभ्मइ) प्राप्त करता है।

टीका—भो प्राणी हो ! पुण्यते स्वर्ग सुख जीव पावै है । जो अरु पाप तें नरक गति में जाय नरक निवासी होय है अरु पुण्य-पाप तजि के दोनों शुभ अशुभ भाव रहित होय शुद्ध निर्मल आत्मा को जान अनुभवै तो मोक्ष का वास पावै यामें सन्देह नहीं । **भावार्थ—**पुण्य करि जीव स्वर्ग लोक पावै । पाप तैं नरक का वास होय । पुण्य पाप स्वर्ग नरक गति का दाता है । तथा पुण्य पाप की मिश्रता तैं मनुष्य तिर्यच गति को प्राप्त होय है, परन्तु मोक्ष की प्राप्ति तो इन दोनों को छोड़ि शुद्ध स्वरूप कीतराग भाव तैं निज आत्मा को अनुभव करने ते होय है ॥३२॥

ब्रह्मतड संजमु सीलु जिय इय सब्बइ बबद्धारु ।

मोक्षद कारण एक मुणि जो तइलोयहु सारु ॥३३॥

ब्रत तपः संयम शीलानि जीव / एतानि सर्वाणि व्यवहारेण ।

मोक्षस्य कारणमेकं मन्यस्व यः प्रिलोकस्य सारः ॥३४॥

अन्वयार्थ—(ब्रह्मतड संजमु सीलु) ब्रत, तप, संयम, शील (इय) ये (सब्बइ) सब (बबद्धारु) व्यवहार धर्म हैं । अर्थात् ये सब मात्रात् मुक्ति के कारण नहीं । (तइलोयहु) तीनों लोकों में (सारु) सर्वोत्तम ऐसा (मोक्षद) मोक्ष का कारण (एक) एक आत्मानुभव को ही (मुणि) मानो—शब्दा करो ।

टीका—हे भाई ! ये ब्रत, तप, संयम, शीलादिक सर्व व्यवहार धर्म हैं । मोक्ष का कारण निज शुद्ध निर्मल मनुभवन जानो जो तीन लोक में सार है और आत्मज्ञान शून्य-श्रद्धान ज्ञान संयम भाव ये तीनों मोक्ष के कारण नाहीं । ताते आत्म-ज्ञान सहित ही बाल्य किया मोक्ष का कारण होती है । इसलिये आत्मा की विशुद्धता, निराकुलता, निर्मलता, समता तथा वीतरागता ही मोक्ष है । मोक्ष आत्मा से भिन्न कोई पदार्थ नहीं । मोक्ष ही आत्मा है । आत्मा ही मोक्ष है । मुक्तात्मा स्वतः स्वाधीन है । मोक्ष आत्मा को ही सर्वोकृष्ट विशिष्ट पर्याय है । भावार्थ—शुद्ध निरब्ध नयते एक परमात्म-

स्वरूप निज आत्मा को वीतराग भाव में, निर्विकल्प होय, औपाधिक भाव स्थागि अनुभव कर। याते यही आत्मा का निश्चय रक्षण्य धर्म है। मोक्ष स्वरूप है। तथा मोक्ष का कारण है। या सिवाय व्यवहार धर्म मोक्ष स्वरूप वा मोक्ष का कारण नाहीं। ताते इसी धर्म का आधिन करो ॥३३॥

आपा आपड जो मुण्ड जो परभाव चयेह ।

सो पावह सिवपुर गमणु जिणवर एड भणेह ॥३४॥

आत्मना आत्मानं यः मनुते यः परभावं त्यजति ।

स प्राप्नोति शिवपुरगमनं जिनवरः एवं भलुति ॥३५॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (आपा) आत्मा (आपड) आत्मा के द्वारा अपने को (मुण्ड) अनुभव करता है और (जो) (परभाव) समस्त पौद्गलिक पदार्थों व कर्म जनित विभाव परिणति रूप परभाव को (चयेह) छोड़ता है। (जिणवर) श्री जिनदेव (एड) ऐसा (भणेह) वर्णन करते हैं कि (सो) वहाँ जीव (सिवपुर गमणु) निर्वाण को (पावह) प्राप्त करता है।

टिका—जो निज आत्मा को जानै। परभाव त्याग है। वीतराग शुद्धोपयोग धर, स्वभाव में तिष्ठ्या है। सोई आत्मा मोक्ष को प्राप्त करै है। ऐसा श्री जिनदेव ने कहा है। **भावार्थ—**जो व्यवहार धर्म को साधन मात्र जानता संता निर्ममत्व होय किया

पालै है । अन्तरंग भाव से रागदेष मोह जनित पर भाव तजि, शुद्ध निर्मल ज्ञान देखन रूप शुण सहित निज आत्मा ताको अनुभवै है । सो शिवपुर को जाय है । ऐसा भगवन्त ने कहा है । जो कर्म जनित उपाधि निमित्सक रागदेष मोह भाव त्यागै । निज स्वरूप को निज चेतन भाव द्वारा ज्ञान दर्शन रूप अनुभवै । निजात्म ज्ञान में लीन होय । इन्द्रिय-सुख विषय लिप्सा से उदासीनता धारै । आत्मरस का आस्थादी होय । निश्चलता से समाधि में लीन होय वही मोक्ष का अधिकारी है । उसी बीर शुरुष को मुक्ति प्राप्त होती । वही समस्त दुःखों पर विजय पाता है ॥३४॥

छह दब्बह जे जिण कहिया एव पयत्थ जे तत् ।

बबहारे जिण उसिमा ते आलिपहि पयत्थ ॥३५॥

षट् द्रव्याणि यानि जिन कथितानि नव पदार्थः यानि तत्वाणि ।

अवहोरण जिनोत्तानि ताणि जानिहि प्रयत्नेन ॥३५॥

अन्वयार्थ—(जे) जो जीव, अजीव, आकाश, वंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात (तत्) सत्त्व-पदार्थ वैशिष्ट्य वा वस्तुस्वरूप और (जे) जो (एव) नौ (पयत्थ) पदार्थ पुण्य पाप सहित जीवादि सात सत्त्व तथा जीव, पुरुष, धर्म, अधर्म,

कील, आकाश ये (छह) छह (द्वयह) द्रव्य (जिण) जिन-
दाज तीर्थकर परम देवने (कहिया) कहे हैं । (ते) वे सब
(व्यवहारें) व्यवहार दृष्टि से ही (जिण) अहंत्यपरमेष्ठी ने
(उत्तिया) प्रतिपादन किये हैं । उन्हें (प्रथत्) पूर्ण प्रयत्न
करके (जाणि-यहि) ज्ञात कर लेने चाहिये ।

व्यवहार सम्बन्धर्णन की प्राप्ति में तत्त्व शद्गान एवं
विज्ञान परमावश्यक है । इसलिये श्रीमत् तीर्थकर देव ने भले
प्रकार पृथक् पृथक् विस्तार पूर्वक द्रव्य, पदार्थ, तत्त्व और अस्ति-
काय आदि का पूर्ण वर्णन किया है । इसलिये जिनाज्ञा को मनः
स्वामिनी माननेवालों द्वारा अवश्य ही भारी प्रयत्न से सभी
पदार्थ भेद-प्रभेद समझ लेने चाहिये और इन सबसे अपनी
आत्मा का चिन्तनबन सर्वथा पृथक् ही करता चाहिये । जिससे
कि आत्मा कर्मों से शीघ्र ही मुक्त हो जाय ।

टीका—जो जिन देव ने छह द्रव्य नव पदार्थ
सप्ततत्त्व कहे हैं । सो व्यवहार नय से वर्णन
किया है और निरचय तें तो एक शुद्ध आत्मा
सो ही जान । भावार्थ-व्यवहार नय ते जिनवर
देव ने छह द्रव्य सप्ततत्त्व नव पदार्थ का व्याख्यान
किया है । ताहि जानि, निरचय तें एक शुद्ध ज्ञान
भयो आत्मा का अनुभव ही भोक्ता का कारण जान
या तें आत्मा अपनी शुद्ध परिणिति करि आप ही
शुद्ध होय है किसी अन्य द्रव्य करि भोक्ता नहीं
बाबै है ॥३५॥ -

सब्द्य अचेयण जाणि जिथ पक्ष सचेयण सार ।
जो जाणेविष परम तुलि लहु पानह यापाह ॥३६॥

सर्वांणि अचेतनानि जानाहि जीव ! एकं सचेतन सारे ।
यज्ञात्मा परम मुनिः लघु प्राप्तिभवपारम् ॥३७॥

अन्वयार्थ—(जिय) हे जीव ! बन्धो ! (सब्द्य)
अन्य सर्व द्रव्यों को (अचेयण) अचेतन-चेतनाविद्वान-
ज्ञान दर्शन-शक्ति रहित (जाणि) समझ लो । केवल
(एकक) एक आत्म द्रव्य को ही (सचेयण) सचेतन्य और
(सार) सर्वोत्कृष्ट मानो । (जो) जिस शुद्धात्म द्रव्य का
(जाणेविष) पूर्ण अन्तरङ्ग वहिरङ्ग विज्ञान करके (परम मुनिः)
परमात्मध्यानी मुनिराज (भवपार) संसार के किनारे पर स्थित
मोक्ष नगर को (लहु) शीघ्र (पाषइ) प्राप्त कर लेते हैं ।
अर्थात् मोक्ष पा जाते हैं ।

टीका—बहुरि योगीन्द्रदेव आचार्य कहे हैं । हे
योगी ! छह द्रव्य, सप्त तत्त्व, नव पदार्थन में
एक जीव द्रव्य को चेतन समझ । बाकी सब
अचेतन द्रव्य हैं । सो जीव ही आत्मा का चेतन
कहलाता है । यह आत्मा ही सार गुण जो चैतन्य
उसे धारण करता है । बाकी सब जड़-चेतनता से
रहित सुख तुख अवस्था के पास नहीं हैं । ताते
एक शुद्ध तुद्ध परम पुनीत निज आत्मा ताहि जानि ।

(५२)

याही के जानने ते लघु काल में संसार ते पार होयगा । सो तुझे यही कर्तव्य है । तेरा भला इसी आत्मा के वास्तविक स्वरूप के जानने से होगा ॥३६॥

जो णिम्बल अप्पा भूणहि छुङ्डवि सहुबवहारु ।

त्रिणसामी एहड भण्ड लहु पावहु भवपारु ॥ ३७ ॥

य, निर्मल आत्माने मनुते त्यक्तवा सर्व व्यवहार ।

जिन स्वामी एवं भलाति लघु प्राप्तोपि भवपारम् ॥३७॥

अन्वयार्थ—(जो) संसार, शरीर, भोग विमुख भव्यात्मा (सहु) सब (ववहारु) ग्रहारभ परियह तथा मनावचः शरीर व्यवहार को (छुङ्डवि) परित्याग करके (णिम्बल) शुद्ध (अप्पा) आत्मा का गंभीर (मुनहि) मनन करता है । वह (लहु) शीघ्र ही (भवपार) संसार समुद्र तीर को (पावहु) प्राप्त कर सकता है । (जिणसामी) जिन महाबीर स्वामी ने (एहड) यह (भण्डहु) वर्णन किया है ।

समस्त शारीरिक, मानसिक और वाचनिक क्रियाओं के द्वलन-चलन रूप व्यापार को और संसार शरीर भोगों में जगे हुये ममत्व भाव को परित्याग कर निरन्तर शुद्धात्मा का सप्रयत्न विन्दवन ही मुक्ति प्रदायी सुखद प्रयोग है ।

टीका—हे मुनि ! जो तू निर्मल रागदेष मोह भाव ते रहित होय निज आत्मा को जान सब व्यवहार को त्यागै तो जिनवर देव ने ऐसा कथन

किया है कि लघु काल में संसार समुद्र तें पार होय यामें संदेह नाहीं । भावार्थ—जो जीव राग-द्वेष मोह भाव तें रहित निर्मल शुद्ध ज्ञानमयी आत्मा को अनुभवै-जानै, स्वरूप में लीन होय, मन बचन काय की क्रियातें रहित हुआ समाधि में लीन होय, सो ही जीव सहज परिणमन के निमित्त तें अन्तसुहृद्दर्स में स्वभाव की व्यक्तता को पावै, अष्ट कर्म का नाश करि मोक्ष प्राप्त होय ॥३७॥

जीवा जीवह भेद जइ जाणाइ जइ जाणियउ ।

मोक्षह कारण एउ भणाइ जोइ जोइहि भणिउ ॥ ३८ ॥

जीवाजीवयोमेंदे यथा जानाति तथा जानातु ।

मोक्षस्थ कारण इदं भणति योगी ! योगिभिर्भणितः ॥ ३९ ॥

अन्वयार्थ—ज्ञान ध्यानतपश्चरणोद्घात महाशय ! (जीव-जीवह) जीव तथा अजीव द्रव्य के समस्त (भेद) भेद प्रभेदों को आप (जइ) जैसे (जाणाइ) जानते हैं । (तइ) वैसे (जाणियउ) जानिये । इमें इसमें कोई आपत्ति नहीं । परन्तु (मोक्षह) मोक्ष का (कारण) कारण जो (जोइहि) योगी-श्वरों ने (भणिउ) प्रतिपादन किया है वह यह है । जो आगे बर्णित है ।

अर्थात् संसार के पदार्थों को विपरीत भी समझ लिया जाय तो कोई महत्वपूर्ण हानि नहीं है । परन्तु आत्म अद्वान में

वैपरीत्य होने से सम्यगदर्शन का विनाश होता है। अतः आचार्य योगीन्द्रदेव समझते हैं कि हे संसारस्थ प्राणियों अपने को समझने में गफिल मत हो जाओ। और जैसा योगी ध्यानी वैरागी ऋषियों ने आत्म स्वरूप प्रतिषादन किया है वैसा ही मैं वर्णन करता हूँ। तुम वैसा ही समझ सोचकर निश्चय कर लो तभी तुम्हारी आत्मा का उद्धार होगा।

टीका—हे योगीश्वर ! जो श्री अरहन्त देव ने दिव्यध्वनि में जीव अजीव द्रव्यनि का भेद कहा ताहि तू जैसे जानें तैसे जान। परन्तु एक मोक्ष का कारण तो शुद्ध बीतराग निर्विकल्प चिदानन्द स्वरूप आत्मा जान। ऐसा ही भए। सोई योगीश्वर भी इसी भाँति कहे हैं। आचार्य— व्यष्टिहार नय तें जीव अजीव द्रव्यनि का कथन जिनागम में अनेक भेद लिये वरणा है। सो इनका जानना परम्परा मोक्ष का कारण है। परन्तु मोक्ष स्वरूप वा मोक्ष का कारण एक शुद्ध बुद्ध आत्मा निर्विकल्प बीतराग स्वसंवेदन ज्ञान करि जो ध्यावना सो ही परमात्म पद का साधन है। ताही कौं तू भाय। अनुभव करके जान। और रागद्वेष मोह विकल्प तजि एक निजस्वरूप में लीन होउ। रागादिक भाव तथा पुद्गल पिएड कर्म रूप तिन सौं

आत्मा को भिज अनुभव कर । ज्ञान ते अभिज्ञ
जान । यही तात्पर्य है ॥३८॥

केवलणाण सहाड सो अप्या मुणि जीव तुहु ।

जह चाहइ सिवलाहु भणह जोइ जेइहि भणिड ॥ ३९ ॥

केवलज्ञानस्वभावे ते आत्मानं मन्यस्त जीव । त्वं ।

यदीच्छासि शिवलाभं भएति योगी योगिभिर्भवितम् ॥ ३६ ॥

अन्वयार्थ—(जीव) हे निजात्मतत्त्वानेष्विन् ! (तुहु) तू
(अप्या) अपने आप को (केवलणाणसहाड) केवल ज्ञान-
स्वभाववाला (मुणि) समझ । (जह) यदि तू (विलाहु)
मुक्तिलाभ (चाहइ) चाहता है । (जोइहि) योगियों द्वारा
(भणिड) कहा गया यह सिद्धान्त (जोइ) योगि मुख्य श्री
योगीन्द्रदेव आचार्य (भगद) कर्तन करते हैं ।

अर्थात् केवल ज्ञान आत्मा की निज सम्पत्ति है । धरोहर
नहीं । ऐसा विश्वास कर बाह्यार्थ प्रयत्न करने से ही कैवल्य बोध
की प्राप्ति होती है ।

टक्का—हे जीव ! तू केवल ज्ञानमयी स्वभाव
जा का उसे ही आत्मा जान । और भाँति मति
जानै । जो तू मोक्ष का लाभ चांच्छै है तो केवल
ज्ञानी भगवान् ने यही योग्य कहा है । सोइ
योगीश्वरन के इन्द्र कहै हैं । **मावार्थ—**केवल ज्ञान
केवल दर्शन रूप स्वभाव जा का ऐसा जो आत्मा

सो ही परमात्मा है । सो ही जीव है सो ही तू है सो तू जान । यद्यपि व्यवहार नयते संसार में कर्मनि तें बँधा स्वभाव रूप केवल ज्ञानादिक गुणनि का व्यक्तता प्रगटपने न पाइये । कर्म च्छयो-पश्चमते किंचित् इन्द्रिय मन द्वारे ज्ञान दर्शन प्रवृत्ति पाइये । सो भी अनेक पराधीनता लिये । तथापि शुद्ध निश्चय नयते केवल ज्ञानादिक की शक्ति को सहाव सदा काल पाइये । सो रागादिक रहित आत्मा को अनुभवै ताही समय स्वभाव की व्यक्तता होय । ताते आत्मा अनन्त गुणरूप सदा ही है अम करि गति जाति रूप मानै था सो अम दूरि भये स्वभाव होने तें स्वभाव की व्यक्तता प्रगटे । ताते आत्मा को केवल ज्ञानमयी अनुभव करि । जो तू मोक्ष चाहे ॥३६॥

कहा है—

कासु समाहि करउ को अंचउ ।
छोपु अछोपु करिबि को वंचउ ॥
हलस कलेहि केण संमाणउ ।
जहिं जहि जोबउ तहि अप्पाणउ ॥४७॥
केषु समाधि कुर्या कं अचेये ।
होभासौभी कृत्वा कं वंचयेये ॥

हर्षसंकलेशो केन समाप्तो ।

यत्र यत्र पश्यामि तत्र आत्मा ॥१०॥

अन्वयार्थ—मैं स्वात्मदर्शी (कासु) किन प्राणियों में (समाहि) समता भाव धारण (करउ) करूँ । (को) किसको (अंचड) पूजूँ । (छोपु) चोभ-उद्घेग (अछोपु) अचोभ-खलानि अर्थात् हर्ष-विषाद, पुण्य-पाप, राग-द्वेष, सारल्य-कौटिल्य (करिवि) करके (को) किसको (बंचड) ठगूँ । (हलस) हर्ष प्रमोद और (करेहि) क्लेश-शोक प्रदर्शन द्वारा (केण) किसके साथ (समाणउ) सम्मान अपमान की बातें कहूँ सुनूँ । (जहिं जहिं) जहाँ जहाँ (जोबड) देखता हूँ (तहि) वही (अप्पाणउ) आत्मा ही दृष्टिगोचर हो रहा है ।

अर्थात्—व्यवहार दृष्टि से संसार के अनेक प्राणियों से एक जीव का शश्व-मित्र पिता-पुत्र सविता-जनयित्री स्वामि-भूत्य गुरु-शिष्य ननान्दा-आतृपत्नी रवश्रु-पुत्रवधू श्रेष्ठि-तस्कर राजा-प्रजा आदि मन्त्रव्यों द्वारा घनिष्ठ संबंध हो रहा है । और अनेक जीवों के साथ अन्य भावों का सम्पर्क है । अनेकों से भविष्य में अवश्यंभावी है । इसलिये प्रत्येक प्राणि मोह-प्रेरणा चशीभूत हुवा नाना संबंध कल्पना से दुःखानुभव ही करता रहता है । वस्तुतः आत्मातिरिक्त कोई भी कल्पना कार्यकारिणी नहीं । सर्वश्र सर्वदा आत्मत्व दृष्टि

से ही विज्ञानी को इतर व्यक्तियों पर दृष्टि चेप करना चाहिये । शश्रुता-मित्रता का भाव आत्मा से अद्भुत दूर रहना चाहिये । इस भाँति कृपालु होकर धर्म भाव से अनेकों का उद्धार करना प्रत्येक प्राणि का वार्षिक है । समस्त आत्माएँ विज्ञानमय पूर्ण सुखाभिलाषी हैं । अतः सब जीवों को विज्ञानी और सुखी बनाने का पूर्ण प्रयत्न जीव मात्र द्वारा होना चाहिये ।

आत्मोद्धार के मुख्य कार्य यह हैं ।

१—जैन-धर्म के सर्वोपकारी उद्देश जनता के समझ ट्रैकट, पेम्फलेट, पुस्तिका, पोस्टर, प्रन्थों द्वारा रखेजायें और धर्मोपदेश, व्याख्यान, शास्त्रार्थ सभा द्वारा जनता को धर्मवात्सल्यपूर्वक समझाये जायें ।

२—जीव-रक्षा का पूर्ण प्रयत्न किया जाय । और प्रयासपूर्वक अहिंसा धर्म का महत्व प्रदर्शन करते हुये प्राणियों को अहिं-सक वीर बनाया जाय । प्राणिवध में अपना धर्म पतन और क्लिश्यमण्ण प्राणि का तीव्र संकोष बतलाते हुये उभय प्राणियों को परलोक में दुःख होना अच्छी तरह समझाया जाय ।

३—जैन बन्धु जो त्यागी, ब्रह्मवारी, व्रती चेष्ट चारण किये भ्रमण करते रहते हैं । उन्हें समझा बुझकर ठीक ठीक कियायें पाजने की ठिकाना करके जैन-धर्म का महत्वपूर्ण प्रचार करया जाय । और दीन, दुःखी, असहाय, अपांग

प्राणियों की रक्षा का भार, बेकारी की आजीविका का प्रबन्ध और पशु-बलि का निरोध कार्य समाज सेवी त्यागियों को सौंपा जाय ।

४—स्थान स्थान पर जैन वाचनालय स्थापित कर पाठकों की रुचि जैन-धर्म में प्रेरणा कर बढ़ाई जाय । पाठकों की अभिलाषानुसार जैन-लाइब्रेरी का गठन निर्माण किया जाय ।

५—समस्त जैनपत्रों को ग्रन्थ ग्राम की कम से कम एक पुस्तकशाला (Library) में अवश्य पहुँचाया जाय ।

६—प्रत्येक जैन मंदिर में वाचनालय का उत्तम प्रबन्ध पंचायत की ओर से मंदिर के किसी भाग वा बाहिर स्थान में करा दिया जाय ।

७—कम से कम जैन मानव और जैन महिलाओं से रेशम के वस्त्र चर्बी से घुटे हुये वस्त्र और हड्डी से साफ किये तथा रक्त से रंगे हुये वस्त्र, चर्म, हड्डी, सीप, लाख, चर्बी, सरेस, फताहल, वार्निश आदि से निर्मित बन्दुयें परित्याग कराई जायँ ।

८—रात्रिशाला स्थापित कर जैन अदैन बाल युवा बृद्धों में धर्मशान का संदेश पहुँचाया जाय ।

९—जीव क्या है ? तुम कौन हो ? तुम कैसे हो सकते हो ? आदि के सुखद उत्तर प्रगट कर प्राणिमात्र के भ्रम को दूर किया जाय ।

१०—जातियों, जुदुम्बियों, पंचायतों में फैले हुये भ्रगड़ों को हो सके वैसे शान्त किया जाय । मनुष्य मात्र में उत्तार भव भरे जायँ ।

द्वेष सोह मत्सर भाव धारण करके प्राणी स्वतः दुखी होता है और दूसरों को क्लेशित करता है। अतः यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है कि—“धर उर समता भाव सदा सामायिक करिये” ॥

ताय कुतित्थइ परिभ्रमइ धुत्तिन ताम करेइ ।

गुरुह पसाए जाम णयि अप्पा देव मुण्डेइ ॥४१॥

तावत् कुतीर्थेषु परिभ्रमति धूर्त्तवं तावत् कराति ।

गुरोः प्रसादात् यावन्तापि आत्मान देव मनुते ॥४२॥

अन्वयार्थ——(जाम) जब तक (गुरुह) निर्गत्य तपोवधन श्री गुरु मुनियाज के (पसाए) दयापूर्ण प्रसाद से वह प्राणी (अप्पा) अपनी आत्मा को ही (देव) देव (ण) नहीं (मुण्डेइ) समझ लेता है (ताम) तब तक ही (कुतित्थइ) खोटे तीर्थों में (परिभ्रमण) परिभ्रमण करता है। और (ताम) तभी तक (धुत्तिन) धूर्त्तवा-पाखण्ड (करेइ) करता है।

अर्थात्——श्री गुरु की पूर्ण कृपा इष्टि होने पर प्राणी अपनी बुरी चेष्टा (आदत, असान, लत) और मनोविकारों से स्वतः दूर हो जाता है। क्योंकि तपोवली ऋषियों का शान्त, भव्य, वीतराय निश्छल मुखमण्डल ही प्राणी को योग्यता के आसन पर विठा देता है और श्री गुरु के चरण प्रसाद से प्राणियों का कल्याण अवश्य होता ही है।

टीका——तब लग ही कुतीर्थनि में परिभ्रमण करै है। तब तक ही खोटे मत जो अरहंतमत तें चाह्य अनेक कुमत तिनका धारि अनाचार अहण करै है। कब लग ? जब लग निर्गत्य गुरुन के

अनुग्रह तें निज आत्मा स्वसंबेदन ज्ञान गोचर ताहि न अनुभव है। भावार्थ—यह जीव अनादि काल तें चार गति रूप संसार में भ्रमण करते कोई एक कर्म के लघोपशम तें वा मंद कषाय के बल तें मनुष्य गति पावै है तहाँ जाति, कुल, दीर्घ-खुल, त्रिष्ठि, इन्द्रिय, यज धी उष्टुप्त, गिरोग शरीर, आवक धर्म, सत्संगति, शास्त्र-श्रवण हत्यादि सामग्री पावना दुर्लभ तें दुर्लभ है। सो भी भाग्योदय ते पाई। परन्तु मिथ्यात्व के उदय तें तथा कुगुरुनि के बहकाये तें कुतीर्थनि का भ्रमण कुमति का धारण पाइये है। सो यह अनादि की अविद्या श्री गुरुनि के अनुग्रह बिना यथार्थ धर्म की देशना न होतें शुद्ध आत्मा को बिना जानें कदी मिटेगो नहीं। तातें श्री गुरुनि के निकट धर्म की देशना सुनि शुद्ध निर्विकल्प निरूपाधि वीतराग स्वसंबेदन ज्ञानगोचर निज आत्मा ताहि अनुभव करि कुतीर्थ का भ्रमण कुमति का धारण कुगति का कारण दुःख रूप ताहि हेय मानि स्याग करना योग्य है। देह रूप मन्दिर में देव है। देहुरे (मन्दिर) में देव नहीं है॥४२॥

तित्थहि देवलि देव एवि इम सुदकेवलि वुत्तु ।
देहादेवलि देउ तिगु पहुङ लाणि खिभंतु ॥४२॥
तीर्थेषु देवालये देवः तापि एवं श्रुतकेवलिना उक्तं ।
देहदेवालये देवो जिनः एवं जागृहि निर्भान्तम् ॥४२॥

अन्वयार्थ—(तित्थहि) तीर्थों में और (देवलि) देवालयों में (देउ) देव (एवि) नहीं है । (इम) यह बात (सुदकेवलि) श्रुतकेवली ने (वुत्तु) कही है । (देहादेवलि) देह रूप देवालय अर्थात् शरीर ही में (जिगु) श्री जिन (देव) देव है । (पहुङ) यह (खिभंतु) विभ्रान्ति (जाणि) समझ लीजिये । तीर्थों, मन्दिरों, मस्जिदों, मठों में देव की खोज नहीं हो सकती है । क्योंकि यह स्थान स्वतः अचेतन है और देव कोई अचेतन पदार्थ नहीं है । इसलिये सचेतन आत्मा जो देव है वह प्राणि के शरीर का ही अधिपति है । वह देह में ही निवास करता है ।

टीका—हे योगी तीर्थनि में तथा देवालय में देव नहीं यह श्रुतकेवली का बचन है । देह रूपी देवालय में जिन देव है । ऐसे निर्भान्त ही जान । **भावार्थ—**जो निज आत्मा को शुद्ध अनुभव सोहृ आस्मा परमात्मा होय । जो परमात्मा है सो ही जिन देव है और तीर्थनि में तथा चैत्यालय में चैतन्य रूप देव नहीं । यद्यपि जिनविष्णु तथा निर्बाण क्लेश आदि तीर्थ या जीव को शुभोपयोग के कारण मनोवाञ्छित फल के दाता हैं । वीत-

रागता उपजने तें निर्जरा के भी कारण हैं ।
तथापि साक्षात् मोक्ष स्वरूप भिज आत्मा सोई
देव देह में तिष्ठा जान । अन्य मति जान । श्री
गुरुनि का यही उपदेश है । हे भाई तू निज
आत्मा को विभाव भावतें तथा पुद्गल पिण्ड रूप
ज्ञानावरणादि कर्मतें चा शरीर तें भिज ज्ञान गुण-
भवी अभूत्सिक असंख्यात् प्रदेशो निरावाष सुख
का पिण्ड अनुभव कर मन बचन काय की क्रियातें
निष्पृत्त होय स्वभाव भाव में तिष्ठ ॥४२॥

देहादेवलि देव जिणु शिणु देवलिहि णियेइ ।
हासड यहु परि होइ इहु सिद्ध भमेह ॥४३॥

देहदेवालये देवो जिनः जिनो देवालये नास्ति ।
हास्यं मुखस्योपरि भवतीहि सिद्धभिज्ञो भ्रमति ॥४४॥

अन्वयार्थ—(देहादेवलि) देह रूप देवालय-मन्दिर में
(जिणु देव) जिन देव है । (देवलिहि) देवालय में चा देवालय
स्वतः (णियेइ) देव नहीं है । (इहु) इस संसार में जैसे
(सिद्ध भिक्षु) जो भिजा प्राप्त कर चुका है वह किर भी रुष्णा
के वशीभूत हुवा (भमेह) भिजा के लिये दुबारा भ्रमण करता
है । तो उसके ही सामने (महु परि) उसके मुख पर ही
(हासड) हँसी (होइ) होती है । वैसे ही स्वतः देव ही स्थान-
स्थान पर देव को ढूँढता किरे तो हास्य का पात्र ही है ।

अर्थात्—आत्मा ही स्वतः देव है। उसका कर्म-बन्धन के कारण चिरकाल से नाना शरीरों में निवास बना रहना है। अज्ञान और मोह के कारण वह अपने को देवत्व वा आत्मत्व बुद्धि से समझ नहीं पाता है। अतः तीर्थों में, मन्दिरों में देव को ढूँढ़ता किरता है। परन्तु यह देव के उत्तम नहीं होते। कारण यही है कि वह अपने में अपनी खोज करता ही नहीं। जैसे बाह्य व्यापारादि भौकटी में अपना समय और मत लगाता है यदि इसी प्रकार स्वल्प भी आत्माभिरुचिकर अपनी खोज में लग जाय तो शीघ्र ही अपने स्वरूप को प्राप्त करले किन्तु अन्य पदार्थों के मोह में फँसकर अपनेपन को भूल जाने से ही अन्य जनां द्वारा हास्य एवं करुणा का पात्र होता है ॥४३॥

मूढा देवलि देऽ णवि णवि सलि लिप्पद चित्ति ।

देहादेवलि देऽ जिणु सो बुज्मड समचित्त ॥४४॥

मूढा । देवालये देवी नापि नापि शिलायां लेष्ये चित्रे ।

देह देवालये देवोजिनः तं बुद्ध्यध्वं समचित्तम् ॥४५॥

अन्वयार्थ—(मूढा) आत्म स्वरूप को न समझने के कारण मूर्ख कहलाने वाले हे बन्धुओं (देवलि) देवालय में (देऽ) देव (णवि) नहीं हैं। और (ण) न (सलि) शिला पाषाण में हैं। न (लिप्पद) लेष्य रंगों से दीवाल पर खिचे हुये चित्रामें मैं हैं। और न (चित्त) चित्रफोटुओं में हैं (देह-देवलि) देह रूप देवस्थान में (देऽ) देव हैं। वही (जिणु) जिन हैं। (सो) उसे (समचित्त) सावधान चित्त होकर (बुज्मड) समझो ।

अर्थात्— काप्तु पुस्त विज्ञाम पाषाण वस्त्र में अंकित कोई वास्तविक देव नहीं है। सब शरीरियों को देह में आविदास करने वाला आत्मा ही देव है। जो कि सचेतन विज्ञानी और पूर्ण सुखी है। अतः अपने और अपने सदृश अन्य आत्माओं के अतिरिक्त अन्य पुद्गल वस्तुओं की देवता बुद्धि से उपासना करना मिथ्यात्व ही है। मिथ्यात्व संस्कार से प्राणी भव में दुखी होता है और आत्म देव की पहचान उसे नहीं होने पाती।

टीका— आज्ञानी जीव की देह में तिष्ठा आत्मा विभाव भाव परिणया संसारी गति जाति आदि विभाव पर्याय में अहं बुद्धि धारता संता शुद्ध ज्ञान मयी स्वरूप तें रहित होय पर विषें रागी द्वेषी मोही हुवा भ्रमै है। सो देव नहीं। धातु पाषाण निर्मित प्रतिविम्ब विषें चेतनता रहित देव नहीं। और देह विषें तिष्ठा आत्मा ताहि स्वसंबेदन ज्ञान भाव तें अनुभवै, शुद्ध स्वरूप भया चीतराग निर्विकरूप निरूपाधि निज शांतरस आस्वाद कर भावै सो ही जिन देव है सो ऐसे जान। इस सम भाव तें ताके देह में तिष्ठा आत्मा सोई जिन देव है। सो ही आराधिवे योग्य है। ज्ञानी जीवनि का आत्मा ही परमात्मा है। काहे तें,

शुद्ध स्वरूप होय शुद्ध आत्मा ध्यावै सो ही शुद्धता
को प्राप्त होय ॥४४॥

तित्थहि देवलि देउ जिणु सब्बह कोइ भणाइ ।

देहादेवलि जो मुणइ सो खुह को वि हवेइ ॥४५॥

तथिं देवालये देवाजिनः सर्वे हि केचित् भणन्ति ।

देहदेवालये या मनुते स वुधः कोउपि भवाति ॥४५॥

अन्वयार्थ—(तित्थहि) तीर्थ ज्ञेयों में और (देवलि)
देवालयों में (जिणु देउ) जिन देव हैं । यह (सब्ब) सब (इ)
ही (कोइ) कोई (भणाइ) कहते हैं । परन्तु (देहादेवलि)
देह रूप मठ में (जो) जो कोई (मुणइ) मानता है (सो)
ऐसा (बुद्ध) परिष्ठत (को वि) कोई विरला ही (हवेइ)
होता है ।

टक्का—तीर्थनि में तथा देवालय में देव
सब कोई कहै है । देह रूपी देवालय में जो
जिन देव जाने है सो ही एक बुद्धिवान् होय
है । भावार्थ—जगत्प्रसिद्ध वार्ता सब याल-गोपाल
तथा परिष्ठत विवेकी सामान्य मनुष्य देवस्मीजन
योही कहै हैं जिन मंदिर में जिनदेव है । तथा
तीर्थ ज्ञेय में जिनदेव है, परन्तु देह रूपी देवा-
लय में जो शुद्ध, वीतराग, निर्विकरण, विभाव
रहित, ज्ञानभयी, असंख्य प्रदेशी, पर द्रष्ट्यनि ते-

(६८)

भिज्ञ, शान्तरस समृत स्वाद का स्वादी स्वसंवेदन
ज्ञान करि निज आत्मा शुद्ध निरचय नय के विषय
ते जिनदेव अनुभव है। सो कोई विरला परिडत
विवेकी पुरुष है, सब नहीं ॥४५॥

जह जरमण करालियउ तड जिणधम्म करेहि ।
धम्मरसायण पियहु तहु जिम अजरामर हांडि ॥४६॥
यदि जरमरण करालेतः तहि जिनधर्म कुरु ।
धर्मरसायनं पित्तं यस्भात् अजरामरो मव ॥४७॥

आन्वयार्थ—(जह) यदि तू (जरमरण करालियउ) ब्रह्मा-
वस्था और मूल्य से त्रस्त-प्रस्त है (तड) तो (जिणधम्म)
जिन धर्म को (करेहि) मन चचन काय से अभिरुचि पूर्वक
पालन कर (तुहु) तू (धम्म रसायण) धर्म रूप रसायन मही-
षधि को (पियहु) पी ले (जिम) जिस से तू (अजरामर)
जरा मरण से रहित मुक्ति सुख से विराजमान (होहि)
हो जायगा ।

अर्थात् संसार के भयंकर रोगों, दुखों, विकारों और व्याकुल-
ताओं से मुक्त कराने के लिये धर्म रूप रसायन ही सर्व-
श्रेष्ठ वस्तु है। अतः दुःखों से भीत प्राणियों को अवश्य जिन-
धर्म का शरण लेना चाहिये। जिन धर्म का मुख्य उद्देश्य है कि—

भेद विज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन ।
तस्मैवाभावतो वद्धा वद्धा ये किल केचन ॥

आत्मा और शरीर के सर्वथा भेद जान लेने और अनुभव
कर लेने पर ही प्राणियों की सिद्धि (मुक्ति) होती है। और

भेदज्ञान के अभाव से ही प्राणी कर्मों से बँध जाते हैं। आज तक जो सिद्ध हुये हैं वह भेद विज्ञान का ही माहात्म्य है। और इसका अभाव ही कर्मों से जीव को बँधता है।

टीका—श्री योगीन्द्रदेव भद्रयनि प्रतिहित वचन कहै हैं। भो भद्र्य जन जो संसार में धर्मण करते अतुरगति के दुःख जरा मरण जन्म रोग-शोक भय आतिं चिन्ता आदि अनेक विषति की पंक तें भय-बांन् होय काँपै है, श्वास भरै है तो जिन धर्म का साधन कर—जिन धर्म रूपी रसायन का पान कर जिससे जरा मरण रूपी रोग से निवृत्ति होय अजर अमर पद पावै ॥४६॥

धर्मु ण पदिया होइ धर्मु ण पोच्छापिच्छयइ ।

धर्मु ण मदियपयेसि धर्मु ण मुच्छा लुच्चियइ ॥४७॥

धर्मो न पठनात् भवति धर्मो न पुस्तक प्रेतले ।

धर्मो न मठप्रवेशे धर्मो न कूच लुंचनेन ॥४८॥

अन्वयार्थ—केवल शास्त्र, श्लोक, नीति, गीति गाथा आदि के (पदिया) पढ़ लेने मात्र से (धर्मु) धर्म (ण) नहीं (होइ) होता है। (पोच्छापिच्छयइ) पुस्तकों के अवलोकन और पीछी, पौथी, कमरहलु के धारण करने से भी (धर्मु) धर्म (ण) नहीं हो सकता। और कोई (मदियपयेसि) मठ में रहने लग जाय, धूनी रमाने लगे, घर छोड़ जंगलों की खाक छाने तो भी (धर्मो) धर्म (ण) नहीं पाला जाता। और (धर्मु) धर्म

(मुच्छा लुचियइ) ढाढ़ी, मूँछ कटाने या सिर के मुड़ाने पर भी (श) नहीं होता है। किन्तु भावों की पवित्रता में और आत्म विश्वास में ही धर्म है।

टीका—धर्म के स्वरूप का साधन पोथी के पठन तें न होय है। तथा पीछी कमण्डलु आदि आदि उपकरण के अहण तें न होय है। तथा नग्न मुद्रा धारि धूल तथा भल सहित शरीर होने वा स्नानादिक करने तेंहूँ धर्म न होय है। वा भाथा लुचने तें न होय है। काहे तें ? जो ये साधन पुद्गलाश्रित किया कर होय हैं। धर्म का साधन निज स्वभाव रूप प्रयत्न में होय है। जो शुद्ध निरचय नय के विषें शुद्ध शुद्ध रूप आत्मा परभाव तें भिन्न निज भाव तें अभिन्न ज्ञानादिक गुणमय ताहि स्वसंवेदन ज्ञानकर अनुभवै, जानें सो ही धर्म है। यद्यपि ये बाह्य साधन व्यवहार रूप तें धर्म कहे हैं तथापि द्रव्य का निज स्वभाव रूप परिणामन ही धर्म है। अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य सों सम्बन्ध धर्म नहीं। अपने-अपने स्वभाव तें सब भिन्न-भिन्न हैं। तातें पर द्रव्य के साधने से निज आत्मा का साधन न होय है ॥४७॥

राय रोस वे परिहरइ जो अप्पा शिवसइ ।

सो धम्मु चि जिल्लु उत्तियड जो पंचम गड देइ ॥४८॥

रागरोषी द्वौ परिहरति य आत्माने निवसति ।

स धर्मोऽयि जिनोको य पंचमगति ददाति ॥४९॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (अपा) आत्मा में ही (शिव-
सइ) निवास करता रहे । और (राय रोस) राग-प्रीति,
रोष-क्रोध (वे) इन दोनों को (परिहरइ) त्याग कर देवै
(सो) वही प्राणी (धम्मु) धर्म सेवन करता है । और परिणामों
की अत्यन्त शुद्धि रूप धर्म उसे (पंचम गड) चार गतियों से
आतिरिक्त पाँचवीं गति मोह को (देइ) प्रदान करता है ।

अर्थात्—अशुभ एवं शुभ भाव आत्मा को कर्मों से आबद्ध
कर देने हैं । और शुद्ध भावों से क्रमशः जीव की मुक्ति
होती जाती है । ऐसा विवार कर प्राणी को सदा शुभाशुम से
निवृत्ति और शुद्ध में लीनता प्राप्त करनी चाहिये । जैन शासन में—
रागी कर्म अन्धन करता और बोतरागी मुक्ति प्राप्त करता बतलाया
गया है । राग द्वेष द्रव्य को दीर्घ नेत्री (छाढ़ बिलोने की रस्सो)
के आकर्षण से अज्ञान और मोह में फँसा हुआ जीव पुनः पुनः
परिभ्रमण करता बतलाया गया है ।

टीका—जो राग द्वेष दोनों विभाव भाव कर्म
तें उपजे तिन्हें परित्याग करै सो ही बीतराग
शान्तरस स्वाभाविक भाव तामें तिष्ठै है सोई
जिनदेव ने धर्म कहा है । इस से ही आत्मा पंचम
गति को प्राप्त होय है । **भावार्थ—**मोह कर्म के

बद्ध तें औलालिक जीव का जीव के होय हैं । तहाँ दर्शन मोह तें तो आत्मभाव तें भिन्न अत्स्व-अज्ञान-मिथ्यात्व भाव होय हैं । चारित्र मोह तें कषाय रूप असंयम भाव होय हैं । तहाँ काहू ब्रह्म को इष्ट मानि राग करै काहू को अनिष्ट मानि द्वेष करै काहू विष्णु गहल रूप अज्ञान रूप होय है । इन ही तें दुःख भया तथा होशा तथा पाछे हो आया । तातें आकुलता लक्षण लिये जो दुःख तथा दुःख का कारण जानि हेय मानि इनका जो जीव त्याग करै है । वीतराग शान्त रस रूप जो सम्यक् भाव ताहि गहि जानन देखन स्वप्न निज गुण स्वभाव तामें तिष्ठै है । सो ही वीतरागता रूप धर्म जिन देव ने कहा है दूसरा नहीं और सो ही जीव मोक्ष को प्राप्त होय है ॥४८॥

आउ गलइ ण वि मणु गलइ ण वि आसाउ गलइ ।

मोह पुरद ण वि अप्यादित इम संसार भमेइ ॥४८॥

आयुर्गलाति न च मनो गलाति नाव्याशा गलाति ।

मोहः स्फुरति नापि आत्महितः एवं संसारे अमाति ॥४८॥

अन्वयार्थ—(आउ) आयु दिन प्रति दिन (गलइ) गहती जाती है परन्तु (मणु) मन और मन की अग्रिला-

वाचों का अन्त कभी (एवि) नहीं होता । (आसाड) धन, सुख, भोग और अभिमान की दुराशायें—दिल की मुरादें (ए) नहीं (गलइ) नष्ट हो पाती हैं । (मोह) खो, पुत्र, मित्र, दुकान, मकान में समता-मोह (फरइ) विशेष फैलता है, किन्तु (आत्म-हित) आत्म-कल्याण, धर्म ध्यान, शुभ परिणाम, पाप परित्याग, व्यसन-विमुक्ति और कषाय बर्जन तथा विषयासकि हीनता (ए) नहीं हो पाती । (इम) इसी कारण प्राणी (संसार) जीवन मरण रूप संसार में (अपेक्षा) व्युत्पन्नि तक कमाते हैं :

अर्थात्—ज्यों-ज्यों मनुष्य के दिल, दिमाश रोशन होते जाते हैं, ज्यों न उमर बढ़ती जाती है, बुद्धि यौवन का विकास होता जाता है त्यों-त्यों मनुष्य अधिक तर विषय लम्फटी काम, कोध, भद्र और लोभ से प्रस्त, आशाओं का दास एवं दुखों का भाजन बनता जाता है । आत्म-हित का विज्ञान और आत्म-हित की ओर अभिरुचि तो कभी होती ही नहीं । इसलिये संसार दुःखों से भी इसे कभी लुटकारा नहीं मिलता ।

टीका—या संसारी जीव की पाई पर्याय आयु निरन्तर छोड़ते हैं, छिन-छिन में घटै है । मन अनेक प्रकार के विकल्पनि करि निरन्तर बदवारी को भजते हैं । रोज़-रोज़ छिन-छिन में चाह को धारै है । मन नहीं गलै है । निश्चल नहीं होय है । आशा पर बस्तु की चाह सो भी न गलै है । नहीं धरै है । मोह महा फुरायमान होय । अनेक चिन्ता

(४४)

करि चित्त आतुर होय है । निश्चित नहीं रहे हैं । तो इन कुभाव भावनि तें मोक्ष कैसे पावै । कदै नहीं पावै । निरन्तर संसार ही में भ्रमण करै है ॥४६॥

जेहउ मणु विसयइ रमइ तिम जे अप्प मुण्डे ।
ओइड भएर रे जोइडु लहु निवाणु लहेइ ॥५०॥

यथा मनो विषयेपु रमते तथा यदि आत्माने ममुते ।

योगी भएति रे योगिन् लघु निर्वाण लमते ॥५०॥

अन्वयार्थ—(जेहउ) जैसे (मणु) मन (विसयइ) विषयों में (रमइ) प्रीति करता है (तिम) वैसे (जे) यदि (अप्प) आत्म स्वभाव की जिज्ञासा में लग जाय और आत्म ज्ञान को ही (मुण्डे) अपना कल्याणकारी समझ ले तो (लहु) शीघ्र ही (गिवाणु) कर्म, इनिद्रा, मन और शरीर तथा दुःखों से मुक्ति (लहेइ) प्राप्त कर ले (रे जोइया) हे योगिन् ! (जोइयहु) श्री योगीन्द्र देव (भएइ) ऐसा सुखद वर्णन करते हैं ।

टीका—हे योगिन् ! जो यह मन जैसे विषय कषाय में निरन्तर फँसा रहे हैं, निरन्तर रमे हैं तैसे ही यदि निज स्वभाव में तिढिं रमै, अनुभव तो योगीबर यों कहै हैं, वह योग का धारक किया है विषय कषाय से विमुख मन जाने सो लघुकाल में मुद्द अनुभव तें बीतराग स्वसंवेदन जान करि

देखन जानन रूप, निज भाव, ताहि अचलोकन कर
शुद्ध अवस्था रूप मोक्ष ताहि प्राप्त होय ॥५०॥

जेहउ जज्जर णरयद्युक तेहउ बुद्धिक सरीर ।
अप्पा भावउ णिम्मलहु लहु पावइ भवतीर ॥५१॥

यथा जर्जर नरस्य एहुं तथा बुध्यस्व जरतिम् ।
आत्मानं भावय निर्मलं लघु प्राप्तोषि भवतिम् ॥५२॥

अन्वयार्थ—(जेहउ) जैसे (णरयद्युक) मनुष्य का घर
(जज्जर) शीघ्र ढूट जाने वाला होता है वैसे ही (सरीर) यह
मनुष्य देह भी जर्जर, धिनावनी, जीर्ण, शिथिल, रुग्ण और
सन्तापकारी (बुद्धिक) समझना चाहिये और (अप्पा) आत्मा को
(णिम्मलहु) कर्मादि दोष व काम कोधादि विकार और बचन
तथा शरीर की अशुभ परिणति से सर्वथा विमुक्त-अलहदा पूर्ण
शुद्ध (भावहु) विचार करना चाहिये । जिससे शीघ्र मुक्ति
की प्राप्ति हो ।

टीका—हे योगिन् ! जैसा इस मनुष्य का जर-
जरा घर है तैसा ही शरीर को समझ निज आत्मा
को निर्मल भाव । उथों लघुकाल में संसार तें पार
होय । **मार्गार्थ—**जैसे कोई मनुष्य जिस घर में रहे
है ताहि को अपना जानै है । कैसा है घर,
जरजरा, फूटा, गिरा, उचल-विचल ताहि हच्छा-
रूप न प्रवर्तने तें आकुलता धारि दृख्यी होय है ।

(७६)

तैसे यह जीव शरीर घर को निज जान अहं बुद्धि धरै है । वाकि कृथता, स्थूलता, वर्णादिक की पलटनि रूप तथा रोग संयुक्त इन्द्रिय की शिथिलता अनेक भाँति असुहावनी अवस्था होय तामें आकुलता करि दुःखी होय है ताहि हित-उपदेश औ गुरु दे हैं । हे भद्र ! जर्जरा घर समान यह देह है ताहि तू निज आत्मा तें भिन्न जान । तेरा घर तो निज स्वभाव भाव ज्ञानादिक गुणनि का समुदाय शुद्ध, बुद्ध, अखण्ड, अमूर्तिक, असंख्य प्रदेशी आत्मनिद्रव्य है । तेरे भाव तें अभिन्न है । ताहि अनुभव कर निर्मल भाव ते भाव । याही तें मोक्ष-कर्म रहित भाव को प्राप्त होगा ॥५१॥

धर्मय पड़ियउ सयलजगु ण वि अप्पा हु मुण्ठि ।

तिह कारणस जीष फुड्डु ण हु णिव्वाण लहंति ॥५२॥

धर्मायां पतितं सकलं जगत् नाय्यात्मानं सन्वते ।

तेन कारणेमे जीवाः स्फुटं न त्वं निर्बाणं लभन्ते ॥५३॥

अन्वयार्थ—(धर्मय) धर्मे व्यापार एवं व्यवसाय में (पड़ियउ) पड़ा-फँसा हुआ (सयल) यह सब (जगु) संसार (अप्पा) अपने को तो कुछ भी (ण) नहीं (मुण्ठि) जान पाता है केवल आर्तौद्र ज्यान में समय व्यतीत कर दुःखा-नुभव ही करता रहता है । और धर्म, जीव, ज्ञान और कर्म के

समझने का प्रयत्न भी नहीं करता । (तिह कारण) इसी कारण से (ए) यह (जीव) जीव (फुड़) प्रत्यक्ष रूप से (शिवाण) निर्बाण-मोक्ष को (गुहा) नहीं (लहंति) प्राप्त कर सकता है ।

टीका—जे जगत् के सकल प्राणी विषय कथाय करि पीड़ित अनेक परिश्रम करते उपाधि रूप धन्धा में अवर्तते सदैव आर्त रौद्र ध्यान में लीन, कुक्रिया में आसक्त, निज शुद्ध आत्मा को न अनुभवै, परमार्थ में नहीं रमै हैं । ताते जगत् में भ्रमै हैं । इस कारण तें मोक्ष नहीं लहै हैं ॥५३॥

सत्थ पढंतह ले चि जड़ अप्पा जे गु मुखंति ।

तिह कारण ए जीव फुड गु हु शिवाण लहंति ॥५३॥

शास्त्रं पठन्ति तेऽपि जड़ा आत्मानं ये न जानन्ति ।

तेन कारणेनेमे जीवाः स्फुटे न हि निर्बाणं लभन्ते ॥५३॥

अन्वयार्थ—(जे) जो (सत्थ) शास्त्र तो (पढंतह) पढते हैं परन्तु (अप्पा) आत्मा को (गु मुखंति) नहीं जानते-अनुभव करते (ते) वे (जड़) मूर्ख हैं (तिह कारण) इसीसे (ए) यह (जीव) जीव आत्मा (फुड़) शीघ्र (शिवाण) मोक्ष (गुहा) नहीं (लहंति) प्राप्त कर सकते हैं ।

टीका—जे जीव शास्त्र पढ़ै हैं, तथा अन्य जन को पढ़ावै हैं । आप श्री गुरु के मुख तें सुनें हैं,

(७६)

औरनि को सुना वै हैं । द्रव्य का अर्थ आप कहे हैं औरनि का कहा आप सुनै हैं । परन्तु तो भी जड़ बुद्धि हैं, काहे तें ? आत्मभाव तें आत्मा को नहीं जानै हैं । अपने स्वरूप से आप आपको नहीं भावै हैं । स्वसंबोद्धन ज्ञान करि ज्ञानमयी आत्मा को नहीं जानै हैं । यातें आत्मज्ञान की शून्यता तें परिणत भी जड़ बुद्धि भये प्रगट धने संसार में भ्रमण करते सन्ते, प्रवृत्ति अप्रवृत्ति से रहित, निवृत्ति पद तादि नहीं प्राप्त होय हैं संसार में निरन्तर भ्रमण करते महा दुःख पावते, तड़क तड़क करि विलाप करै हैं । सुख को नहीं पावै हैं ॥५३॥

मणु इदिद्धि विच्छ्रोइयइ बुह पुच्छयए ण जोइ ।

रायह एसर निकारियइ सहज उपजइ सोइ ॥५४॥

मन इन्द्रियैः विज्ञुन्यते बुधः पृच्छयते न यः ।

रागप्रसारं निकारयति सहजं उत्थयते स ॥५५॥

अन्वयार्थ - जो (मणु) मन और (इदिद्धि) इन्द्रियों की करतूतों से (विच्छ्रोइयइ) परेशान हो जाता है और मन इन्द्रियों को वशीभूत नहीं करता वह (बुह) बुद्धिमान् पुरुषों में (ण) नहीं (पुच्छयइ) गिना जा सकता । परन्तु जो (रायह), राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध, कपट आदि विकारों के (प्रसर) प्रसार को (निकारियइ) दूर कर देता है (सोइ)

वही (सहज) स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य चैतन्यादि भावों को (उपजइ) उत्पन्न करता है।

टीका—मन इन्द्रियन को जे वशीभूत नहीं रखते हैं जोभित रूप रहे हैं सो सुदुष्टिमान् नहीं अरु जो बुद्धिमान् रागादिक को निवारी हैं सो ही सहज भाव जो शान्त रस ताके आस्वादी हुये संते शुद्ध निज आत्मा ताहि अनुभव हैं सो मोक्ष पावै हैं । मावार्थ—जे जीव मन इन्द्रिय के वशीभूत हैं इनके विषय मिलावने को तथा भोगने को उद्देशित चित्त भये चिन्तातुर होय हैं सो बुद्धिमान् नहीं हैं । जो सहज स्वभाव तें परिणमते निज रूप तामें तिष्ठि रमें हैं सोही मोक्ष नगर को जाय हैं ॥५४॥

पुण्यलु अरणु जि अरणु जिड अरणु जि सहु विवहार ।
चयद्वि चि पुण्यलु गढ़ि जिड लहु पाचहु भव पारु ॥५५॥

पुद्गलोऽन्यः अन्यो जीवः अन्यः सर्वं व्यवहारः ।

त्यज पुद्गलं यहाणु जीव लधु प्राप्तोऽपि भवपारम् ॥५५॥

अन्वयार्थ—(पुण्यलु) शरीर, मकान, वस्त्र, धनादिक पुद्गल द्रव्य जीव द्रव्य से सर्वदा (अरणु) अन्य हैं। और (जिड) जीव भी पुद्गलादि द्रव्यों से सदा (अरणु) अन्य अलहदा है। तथा अन्य (सहु विवहार) सर्वं व्यवहार-जीव-चेष्टा-पुद्गल परिणमन भी (अरणु) भिन्न भिन्न ही हैं। इसलिये

(पुरगलु) पुद्गल को त्याग और (जिव) जीव—निजात्मा को (गहानि) प्रहण कर। जिससे (लहु) शीघ्र ही (भव पार) संसार तट पर स्थित मोक्ष नगर को (पावहु) प्राप्त कर सके।

टीका—श्री लालहन्त देव ने द्रव्य घनि में छह द्रव्य कहे हैं। तिनमें पाँच द्रव्य-जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल अमूर्तिक हैं। बहुरि एक पुद्गल मूर्तिक है। तिनमें चेतना लक्षण जीव है शेष जड़ हैं। सो धर्म, अधर्म, आकाश, काल तो स्वभाव रूप परिणवै, विभाव रूप नहीं। जीव और पुद्गल विभाव व स्वभाव रूप भी होय हैं। द्रव्य कर्म के उदय तें जीव के निज भाव नहीं अपितु रागादिक विभाव भाव होय हैं। तिन ही के निमित्त तें पुद्गल द्रव्य-कर्म होने योग्य जै परमाणु ते कर्मत्व रूप होय हैं। बहुरि ताही द्रव्य कर्म के उदय तें शरीर आदि होय हैं वे जीव का पर्याय नहीं विभाव पर्याय है। तहाँ मोह कर्म के उदय तें पर्याय विषें अहं बुद्धि धारै है। पर वस्तु विषें अहं भाव करै हैं। सुहावने में अनुराग असुहावने भें शेष बुद्धि धरै है। सो संसारी जीव अनादि तें जो-जो देह धारै तामें अपनपे की बुद्धि धारि रहै है। दुखी सुखी होय है। सो सुख कहने

मात्र है । यह तो केवल दुःख ही भोगवै है । ताहि ओगुर कहें हैं । हे जीव पर्याप्त रूप जो पुदगल द्रव्य है सो तेरे आत्मा तें भिन्न है । तू जीव है, पुदगल तें अन्य-जुदा है । अब पाँच इन्द्रिय पुदगल रूप आकार को धरै जुदी-अन्य हैं । द्रव्य मन तुझ से अन्य-जुदा है । इन्द्रियानि के विषय स्पर्श, रस गन्ध, वर्ण, शब्द सो तुझ जीव तें अन्य-जुदै हैं । ये पुदगलमधी जड़, मूर्तिक, असंख्य पुदगल विनाशीक हैं । तू जीव चैतन्य ज्ञानवानी लक्षणिक, सुख पिण्ड, असंख्यात् प्रदेशी, अविनाशी, अद्वितीय, समय सार-द्रव्य है सो विभाव भाव रूप राग द्वेष मोह को तथा पुदगल ज्ञानावरणादिक, नो कर्म शरीरादि तिनको अपने भाव तें भिन्न जानि हेय मानि ह्याम करै तो लघु काल में मोक्ष पावै ॥५४॥

जे ण वि भरणह जीव फुडु जे एवि जोणि मुण्ठि ।
ते भिणणाहह उत्तिया एउ संसार मुर्थिति ॥५५॥

ये नापि मन्यन्ते जीवं स्फुटं ये नापि योनि मन्यते ।

ते जिननाथेन उक्ता न च संसारं मुश्चन्ति ॥५६॥

अन्यथार्थ—(जे) जो प्राणी (जीव) चैतन्य ज्ञान स्वभावात्मक जीव को (फुड) स्फुट-स्पष्ट रीति से स्वतः सत्त्वात्मक

(ए वि) नहीं (मरणहि) मानते हैं और जो (जोए) जीव-योनियों को (वि) भी (ए) नहीं (मुर्णति) स्वीकार करते हैं (वे) वे विषयीत बुद्धि तथा भ्रम शांल (संसार) चतुर्गति भ्रमण रूप संसार को (एउ) नहीं (मुर्णति) छोड़ते हैं। ऐसा (जिणणाहह) श्रीमज्जिनताथ अहंत्परमेष्ठी ने (उत्तिया) कहा है।

टीका—जो जीव को जीव नहीं मानते हैं, पुदग्ज को ही जीव मानते और निज आत्मा जो जीव ताहि अनुभव गोचर नहीं करते हैं। पर्याय बुद्धि हैं पर्याय को जीव जान अहंबुद्धि धारते हैं। तिनको जिनवर देव कहे हैं, कभी मुक्ति न होय। संसार को नहीं छोड़ेगे। संसार मालौं गलेंगे। ऐसा जानि ॥५६॥

रयण दीउ दिणयर दहिउ दूध धीउ पाहाणु ।
सुरण रुउ फलियउ अगियि णव दिटुंता जाणु ॥५७॥

रत्नं दीपः दिनकरः दधिं दूरवं शृतं पापाणं ।
सुवर्णं रूपा स्फटिकः अग्निः नव दृष्टान्तान् जानीहि ॥५७॥

अन्वयार्थ—आत्मा के अस्तित्व और आत्मा के स्वभाव की सिद्धि के लिये (रयण) रत्न (दीउ) दीपक (दिणयर) सूर्य (दहिउ) दही (दूध) दूध (धीउ) धी (पाहाणु) पत्थर (सुरण) सोना (रुउ) चाँदी (फलियउ) स्फटिक मणि और

(अगिंशु) अग्नि ये (खब) तौ (दिहंता) दृष्टान्त कहे हैं इनके द्वारा जीव के स्वरूप को भली भाँति (जाग्रु) जान लेना चाहिये ।

अर्थात् जैसे गल्ल सदा काल अपनी प्रभा से दीप्त रहता है वैसे ही जीव अपने स्वाभाविक ज्ञान चैतन्य और आत्मिक तेज से दीप्त रहता है । दीपक जैसे स्वतः अपने आपको और अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है वैसे ही जीव का स्वाभाविक ज्ञान भी निजात्मा और अन्य पदार्थों को स्पष्ट जानता है । सूर्य प्रातः सायं और मध्याह्न में अपनी पर्यायों को बदलता हुआ भी एक ही रहता है वैसे ही जीव भी मनुष्य तिर्यक्, देव, नारकी अथवा, कुमार, युवा और शुद्ध अवस्थाओं को धारण करता हुआ भी एक है । जैसे दही का मथन करके धी की उपलब्धि होती है वैसे ही आत्मध्यान द्वारा मनो-मथन करके आत्मिक बोध, स्वाभाविक सुख आदि की प्राप्ति होती है । जैसे दूध में शक्ति की अपेक्षा ची. मक्खन, दही, छाड़, खोया, खुरचन, मलाई आदि पदार्थ विद्यमान हैं वैसे ही आत्मा में भी सतत सुख, पूर्ण बोध अपूर्वाद्भुत शक्ति और चैतन्य विद्यमान हैं । जैसे धी से कभी भी सुगन्धि एवं सविकाणता (चिकनाई) दूर नहीं होती वैसे ही आत्मा के ज्ञान एवं सुख कभी भी पूर्ण विच्छेद नहीं होते । जैसे पत्थर ढूट जाने पर फिर नहीं जुड़ता वैसे ही आत्मा भी कभी से मुक्त हो जाने पर फिर नहीं बंधता । वैसे स्वर्ण तपाये जाने से शुद्ध होता है वैसे ही आत्मा भी तपश्चर्या, आत्मध्यान, ज्ञानो-पर्योग से शुद्ध होता है अग्नि के संयोग से स्वर्ण की तरह परमात्मा के ध्यान से परमात्मा होता है । चाँदी जैसे उत्पत्ति

स्थान में मैल-मिट्ठी सहित रहती है वैसे ही आत्मा भी कर्म-मल सहित अनादि निर्गोद पर्याय से है। स्फटिक डाक (रंगोले काम, पन्ती) के संयोग से जैसे नाना रूप का दृष्टिगोचर होता है वैसे ही आत्मा भी राग-द्वेष मोह आदि के सम्बन्ध से रागी-द्रेषो कासी-काखी कहलाता है। अतिन जैसे स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करती है वैसे ही आत्मा का स्वभाव भी ऊर्ध्वगमन का है। इस तरह आत्मा के नाना स्वभावों का ज्ञान प्राप्त कर युद्धात्म पद को पा लेना चाहिये ॥५७॥

देहादिय जो पर मुण्ड नेहड सुणहु आयासु ।

सो लहु पावर वंभु पर केवल करइ पर्यासु ॥५८॥

देहादिके थः परे मनुते ब्रह्म शून्यमाकाश ।

स लपु प्राप्तोते ब्रह्म परे केवलं कठीते प्रकाशम् ॥५९॥

अन्तर्यार्थ—(जेहड) जैसे (आयासु) आकाश इन्द्रियों द्वारा उत्प्रयोग्य न होने से (सुणहु) शून्य है। उसी प्रकार (जो) जो (देहादिय) शरीर, मन, ब्रह्म, इन्द्रिय, कथाय, पुरुष, पाप, इष्ट मात्र आदि को आत्मा के न जान कर (पर) आत्मा से भिन्न ही (मुण्ड) मानता है (सो) वह भेद ज्ञानी (तहु) शीघ्र हो (पर) परम (वंभु) ब्रह्म-विशुद्ध परमात्मा को (पावर) पा लेता है और (केवल) केवल ज्ञान स्वात्मा में उत्पन्न करके (पर्यासु) तीन लोक के समस्त पदार्थों को प्रकाश (करइ) करता है।

अर्थात्—संसार बन्धन का कारण ममता-मोह एवं पर पदार्थों से ह्येह करता ही है। जब किसी आत्मा ने देहादिक

समस्त पर पदार्थों से मोह भाव हटा लिया । कषाय, विक्रया, प्रमाद, प्रीति को वीतरागभाव ढारा जीत लिया । तब ही उसने स्वयमेव अपनी विशुद्ध परिणति से स्वत्मावलोकन कर स्वसुखानुभूति प्राप्त की और शिवोर्यार्दी पदार्थों को स्पष्टता से प्रगट करने वाले केवल ज्ञान को प्राप्त किया । तब वही दोष व आवरण संयुक्त संसारी आत्मा अपने ही परमोत्कृष्ट पुरुषार्थ ढारा महददुर्लभ मोक्ष-विभूति परम सुख, परम शान्ति, सर्वतोभद्र निराकुलता, निर्दोषिता, नीरागता, चैतन्यानुभूति, शुद्धात्मज्ञान परिशीलन-सम्पदा को उपार्जन कर परम सुखी हो जाता है ।

टीका—जो योगीश्वर देह विष्णु निज आत्मा को परमात्मा स्वरूप अनुभवै जैसे आकाश शून्य, अमूर्तिक, निराकार तैसे ही अमूर्तिक निराकार स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण रहित तथा शब्द, बन्ध, सौहस्य, स्थौल्य, तम, उच्चोत, संस्थान, भेद, छाया, आतप पर्यायरूप पुद्गल तें रहित, अणु, स्कन्ध तें रहित, चैतन्य करि संयुक्त वीतराग, निर्विकल्प होय स्वसंवेदन ज्ञान तें भावै है सो योगी लघुकाल में परम ब्रह्म, समयसार, शुद्ध, बुद्ध, मिद्द अवस्था को प्राप्त होय केवल ज्ञान को प्रकाश करै है ॥५८॥

जेदउ सुद्ध अयासु जिय तेदउ अप्पा उत्तु ।

आयासु वि जड़ जाणि जिय अप्पा चेयणवंतु ॥५९॥

यथा शुद्धमाकाशं जीवं तथा आत्मा उक्तः ।

आकाशमपि जडं जानीहि जीवं आत्मानं चेतन्यवक्तं ॥५६॥

अन्वयार्थ—(जेहउ) जैसे (अयासु) आकाश वैभाविक परिणमन से रहित (सुद्ध) शुद्ध है (तेहउ) वैसे ही (अप्या) आत्मा भी स्वाभाविक परिणमन गुण धारण करने से परम शुद्ध (उत्तु) कहा गया है । भेद केवल इतना ही है कि (अयासु) आकाश (वि) तो (जड़) अचेतन है अनुभव ज्ञान शून्य है और (अप्या) आत्मा (चेतनावन्तु) चेतनावान्—अनुभव ज्ञानी है (जिय) हे जीव ! तू भी अपने को ऐसा ही, शुद्ध ज्ञानी, सुखानुभोगी, शान्त्यनुभवी अनुभव कर ।

टीका—हे आत्मन् ! जैसा शुद्ध, निष्ठा, अमूर्तिक आकाश है तैसा ही आत्मा कहा है । भेद इतना ही है जो आकाश तो जड़ है और आत्मा चेतन्य स्वरूप है । अमूर्तिकपने तथा असंख्यात प्रदेशपने में समान हैं । सो शुद्ध, तुद्ध होय निरचल मन, वीतरागता लिये आत्म स्वरूप अमृत पान करि जरामरण, जन्म, रोग, शोकादिक नाहि नाश कर स्वभाव भाव में तिछि, जो केवल ज्ञान का प्रकाश होय ॥५६॥

णासंगि अभित्तहं जो जोवह असरीह ।

वाहुद्वि जन्म ए संभवह पिवह ए जणणी स्वीह ॥५७॥

नासामेण अभ्यन्तरे यः पश्यति अशरीरं ।

ब्यावृत्य जन्म न संभवति पिवति न जननीक्षीरम् ॥६०॥

अन्वयार्थ—(जो) जो योगाभ्यासी (असरीर) देह रहित अपूर्तिक आत्मा अथोत् परमात्मा को (अद्विभावह) अपने शरीर के भोतर (णासगिं) नासिका के अग्र भाग पर ध्यान धारण करके (जोवद्) अबलोकन करता है यह जन्मात्मा जो प्राप्त कर लेता है । और (बाहुडि) फिर लौटकर उसकी (जन्म) जन्मोत्पत्ति (ण) नहीं (संभवद्) संभव होती है । (ण) न उसे (जणणी खीर) माता का दृष्ट ही (पिवद्) पीना पड़ता है ।

टीका—जो आत्मज्ञानी जन संसार देह भोगों से दिरक्त होकर धनादिक वाहरी परिग्रह और राग-द्वेष, मोह, काम, क्रोधादि अन्तरंग परिग्रह को छोड़कर निश्चल होय देहादिक से समकार अहंकार त्याग समझाव धारण कर ध्यान धरे हैं और अन्तरंग शुद्ध निज आत्मा को परमात्मा सदृश्य ध्यावे हैं ते शीघ्र मोक्ष पावे हैं और जन्म मृत्यु से छूटे हैं ॥६०॥

असरीर वि सखरीर मुणि इहु सरीर जड़ जाणि ।

मिच्छ्रा मोह परिच्छ्रवहि मुक्ति यियं लिणिमाणि ॥६१॥

अशरीरमपि सशरीरं मन्यस्त इदं शरीरं जड़ जानीहि ।

मिथ्यामोहो परत्यज मुक्ति निजो निष्ठे मनु ॥६२॥

अन्वयार्थ—(सर्वरीढ़) देह सहित आत्मा को (वि) भी तू (असरीढ़) शरीर रहित अर्थात् शुद्ध (सुणि) स्वीकार कर और (इहु) इस (सरीर) देह को तू (जड़) अचेतन ही (जाणि) जान अर्थात् देह को ही चेतन, आत्मा नहीं समझना चाहिये (मिच्छा) देह में आत्म बुद्धि रूप, मिथ्या श्रद्धान, विपरीत बुद्धि तथा (मोह) ममत्व को (परिच्छयदि) ल्याग दे और (मुक्ति) मुक्ति मेरी (गिर्यं) निज की (णिणि) सम्पदा है ऐसा (माणि) स्पष्ट जानना चाहिये अर्थात् मोह किसी की कृपा से नहीं मिल सकती, वह तो अपनी निजी चीज़ है—अपनी आत्मा की परमोच्च दशा है जो स्वयं पुरुषार्थ करने से आत्मीक गुणों का विकास करने से प्राप्त होती है ।

टीका— यद्यपि निश्चय नग तें यह आत्मा अशरीर-शरीर रहित है । तथापि शरीर सहित आत्मा को शुद्ध जान । काहे तें यह शरीर जड़, और आत्मा चेतन है । मिथ्यात्व मोह के प्रभाव करि मूर्तिवन्त जड़ देह को निज की जानै मानै है । **मावार्थ—** यह आत्मा अनादि काल से द्रव्य कर्म के उदय तें नो कर्म रूप पर्याय धर मूर्तिवन्त होय हैं । नाम कर्म करि निज स्वभाव अमूर्तिक ताहि नहीं प्रगट करि सकै हैं । जब काललिंघ वा होनहार तें, कर्म के च्योगशम तें, वाल्य अनेक निमित्त मिलने तें उपदेश को पाय, पुरुषार्थ कर, सच्चि

मार्ग का विधि-पूर्वक ग्रहण कर, कर्म का नाश करै निज स्वभाव रूप परिणवै । विभाव-भाव, राग-दिक, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, शरीरादि नो कर्म तिन तें रहित होय, निज स्वभाव अमूर्तिक रूप परिणवै है । जो आत्मा का अनादि भाव था सो ही प्रगटै है । ताते जाना जाय जो पहले था सो ही अथ हुआ । अब हुआ सो पहले भी था । अथ है सो आगे भी होंसी । ऐसे द्रव्य का निज भाव त्रिकाल ही विच्छमान है । याते आत्मा अमूर्तिक जान, देह-पुद्गल रूप मूर्तिक पर्याय ताहि भिन्न मानि, राग-द्रेष, मोह भाव त्यागि, शान्ति भाव लाय, आनन्द स्वरूप होउ, ज्यों मोक्ष प्राप्त होय ॥६१॥

अपरय अप्यु मुण्डतयहैं किंण्डा फलु होइ ।
केवल गण्डु विपरिणवइ सास्त चुक्खु लहोइ ॥६२॥

आत्मना आत्मानं भन्यानस्य किं नेह फलं भवति ।

केवल ज्ञान विपरिणामते शास्त तं सुस लभते ॥६३॥

अन्वयार्थ--(अपरय) अपने आत्मा द्वारा (अप्यु) अपने आत्मा को (मुण्डतयहैं) मनन अनुभवन करने वाले भव्य प्राणी के (किंण्डेहा) इस संसार में कौनसा (फलु) फल नहीं (होइ) होता है ? अथवा आत्म चिन्तवन-

से क्या फल नहीं होता है ? अवश्य ही (केवल णाणु) केवल ज्ञान रूप (विपरिणामइ) परिणामन करता है—केवल ज्ञानी-सर्वज्ञ हो जाता है और (सासद) सर्वदा रहने वाले अविनाशी (सुखख) सुख को (लहैइ) प्राप्त कर लेता है ।

टीका—जैसे सूर्यमंडल अपने प्रकाश तें निज मंडल तथा घट पटादिक अन्य पदार्थों को प्रकाशै है तैसे ही आत्मा, ज्ञानादिक अनन्त गुण स्वरूप निज भाव ताकरि निज स्वभाव रूप आत्मा जो आप ताहि जानै अनुभवै और उसी ज्ञान ते पदार्थनि को जानै अनुभवै है । रागादिक करि व्याकुल होय केवल संसार ही बंधै, कुछ मिद्दू नहीं होय है । तातें आत्मातें आत्मा को अनुभवै तो केवल ज्ञान के प्रकाश कर शाश्वता जो मोक्ष पद ताहि पावै तहीं अनन्त सुख अव्यावाध—त्राधा ते रहित, शाश्वता, अविनाशी, पूर्ण, पराधीनता रहित, अनुपम, इन्द्रियातीत स्वात्मोत्थ आनन्द-सुख को लहै हैं ॥६२॥

जे परभाव चपवि मुणि अप्णा अप्पु मुण्टि ।

केवल णाणस्वरूप लर ते संसार मुर्यंति ॥६३॥

ये परभावान् ल्यक्तत्वा मुनयः आत्मतात्माने मन्वते ।

केवल-ज्ञानस्वरूपं लब्ध्वा ते संसारे मुच्छन्ति ॥६३॥

अन्वयार्थ—(जे) जो वीतरागी तपस्वी (मुणि) मुनिराज (परभाव) आत्मा से भिन्न पुद्दलाश्रित किया और भावों को (चएड) छोड़ कर (अप्पा) अपने द्वारा ही (अपु) अपने आपको (मुणनित) अनुभवते हैं (ते) वे तपोधन (केवल ज्ञान सरूप) केवल ज्ञान स्वरूप निजात्मा को (लइ) प्राप्त कर के (संसार) ओर वैदना एवं नाना दुःख पूर्ण दृष्टि लक्ष योग्य संसार को (मुयंति) छोड़ देते हैं—मुक्त हो जाते हैं ।

अर्थात्—जैसे कारावास क्रैंड में रहता हुआ मनुष्य जेलखाने को अपना घर नहीं समझता है, वैसे ही यदि संसार में रहते हुये जीव दुःखपूर्ण संसार को कभी अपना व अपने लिये सुखदा यक न समझे और संसारिक परिणाम-कुटुम्ब का माह चिन्ता आदि धनेच्छा, विषय कपाय जीवन मरण आदि से विरक्त रह कर सभी भंकटों से अपना वित्त हटा ले और जीवन का बहुभाग समय आत्म-चिन्तन एवं ज्ञानोपयोग में व्यय करे । यहस्थ जीवन को काम कोधादि कषाय, वासना आदि से अलग रखता हुवा, परोपकार सतसंग आदि में व्यतीत कर पूर्ण आत्म उद्धार के लिये श्रद्धा-जाल त्याग एकान्तवासी हो साधु पद को सादर स्वीकार करे तो सर्व मोहादि दुर्भाव विजय कर शुद्धात्मा नुभूति रस-आस्वादन करते हुये भद्र प्राणी कर्म शृङ्खला तौड़ कर अवश्य ही केवल ज्ञान प्राप्त करता है और केवल य प्राप्ति ही मुक्ति का लक्षण है । क्योंकि यहाँ पूर्ण ज्ञान, पूर्ण सुख, अनन्त धीर्य, सत्य दर्शन और सर्वतोभद्र आत्म निष्ठा प्राप्त हो जाती है । कोष, आवरण, पाप, चिन्ता, भय, वाधा नाममात्र को भी नहीं रहते । परम वीतरागी होते हुये भी यह शुद्ध जीव

अर्हत् और सिद्ध अवस्था में स्वात्म-सुख को पाकर परम सन्तुष्ट रहता है। वीतरागता का अनुभव ही उसका पूर्ण सुख है।

टीका—जे जीव पर जनित भाव, राग द्रेषादि रूप और औदियिक भाव, पर्याध भाव, कषाय भाव, वेद भाव, मिथ्यात्व, असंयम, अज्ञान, असिद्धत्व, लेश्या भाव तिन्हे हेय मानि, त्याग-योग्य जानि त्यागै हैं। निज भाव तें निज आत्मा को जानि अनुभवैरमै हैं। सो केवल ज्ञान स्वरूप को पाय संसार को छोड़े हैं। आत्म स्वभाव की परिपूर्णता को प्राप्त होय अनन्त सुखो होय है॥५३॥

धण्णाते भयवंत बुद्ध जे पर भाव चर्यति ।

लोया लोय पर्यास यरु आपा विमल मुण्डि ॥५४॥

धन्यास्ते भयवन्तो बुधा ये परभावान् त्यजन्ति ।

लोका लोक प्रकाश करं आत्मान् विमलं मन्तते ॥५५॥

अन्वयार्थ--(ते) वे (भयवंत) संसार शरीर भोगों से भयभीत तथा भाघ्यशाली (बुद्ध) बुद्धिवान् महा पुरुष (धण्ण) धन्य हैं जो (परभाव) राग, द्रेष, मोह, मात्सर्य, मद, काम, क्रोध, कृत्त्व, कषाय, कपट लामरुद्य, अदि दुर्भावों को (चर्यति) त्याग कर देते हैं। और अपनो आत्मा को (लोया-लोयपर्यासयन) लोक, अलोक के प्रकाश करने वाला (विमल) निर्मल, निर्दीप (मुण्डि) मानते हैं। और अल्प समय में ही

केवल ज्ञानी, वीतरागी, द्वितोषपदेष्टा देवेश्वर भगवान् हो जाते हैं।

अर्थात्—जो जैसे विचार करता रहता है और विचारनुभार ही चेष्टा करता रहता है वह वैसा ही हो जाता है। जो जैसी संगति करता और जैसे निमित्त मिलाता है वह वैसा ही बन जाता है। इसलिये सदा शुभ, मतोहर भाव रख कर एक-पर-समुद्धार करते रहना चाहिये। और जैसा व्यवहार इम अपने लिये दूसरों के ढारा चाहते हैं वैसा ही दूसरों के साथ हमें भी करना चाहिये।

संसार, शरीर भोगों से स्वतः विरक्त रह कर दूसरों के लिये महान् आदर्श बनना चाहिये। उपदेश से उदाहरण का अधिक महत्व है। अतएव निजात्मा को समुच्छ्रिति के मार्ग पर ले जाकर अन्य पुरुषों के सामने सुखद उदाहरण रखना चाहिये।

वे पुरुष वास्तव में परोपकारी, उदार एवं सहेयां हुये हैं जिन्होंने स्वयमेव पर पदार्थों का परित्याग किया है। आत्मा का महोद्धार किया है उनकी शिक्षा मनुष्य मात्र पर विना दिये ही प्रकाशित हुई है। सूर्य, रक्त, सुवर्ण आदि कहने से नहीं किन्तु गुणधारण करने एवं गुणवान् होने से विद्युत हैं। वे स्वतः प्रकाश करते हैं औरों को कहते नहीं।

टीका—जे बुद्धिवन्त प्राणी संसार देह भोग लहमी चेतन अचेतन पदार्थनि तें राग छेष विभाव तें रहित होय, विरक्त भाव होय संसार दुःखनि तें भयवन्त रहे हैं। परभाव का त्याग

(४४)

करे हैं । ते धन्य हैं सो ही थोरे से काल में कर्म खियाय, केवल ज्ञान पाय, लोक अलोक का प्रकाश कर निर्मल आत्म पद मोक्ष ताहि प्राप्त होय अखण्डित आत्मिक सुख सदा काल अनुभव हैं ॥६४॥

सागारु बि णागारु हुवि जो अप्ता णिवसेइ ।

सो पावइ लहु सिद्धसुखु जिणवरु पम भण्डइ ॥६५॥

सागारो बानगारो गवेन् यः आत्मनि निवसाते ।

स शास्त्रोति लघु सिद्धसुखु जिनवरं एवं भण्डति ॥६५॥

अन्यथार्थ—(बि) चाहे (सागारु) गृहवासी हो चाहे (णागारु) गृह त्यागी ब्रती ब्रह्मचारी, वर्णी अथवा मुनि (हुवि) हों (जो) जो सरल परिणामी (अप्ता) आत्मा में (णिवसेइ) निवास करता है । आत्म ध्यान करता है । शरीर को निवास नहीं किन्तु आत्मा को ही अपना घर समझता है । (सो) वह (लहु) शीघ्र (सिद्धसुखु) सिद्ध जीवों के पूर्ण सुख को (पावइ) पाता है (जिणवरु) श्री जिनेन्द्र भगवान् (एम) ऐसा ही (भण्डइ) वर्णन करते हैं ।

टक्का—जो जीव निज भाव में तिष्ठे है सो ही लघुकाल में सिद्ध सुख को पावै है । सागार-गृहस्थ हो वा अनगार-मुनि हो । भावार्थ—जो सम्यक्त्वरूप निज गुण ताहि निज आत्मा को

अहंकराव । यथार्थपने समस्त पदार्थनि को अद्वैत है । अद्वैत पूर्वक जानै है । वाही भाँति स्वभाव रूप प्रत्यती है । सो ही मोक्ष पावै है । बाह्य साधन तें कुछ नहीं । चाहे गृहस्थ हो चाहे सुनि होड़ । अन्तरंग ज्ञान तें सुनि, गृहस्थ दोनों पद में मोक्ष लघुकाल में पावै है । विशेष इतना है । सम्यक्त्व सहित अणुब्रत में साक्षात् मोक्ष नहीं । परम्परा मोक्ष का कारण है । सम्यक्त्व सहित यथावत् सुनि ब्रत साक्षात् मोक्ष का कारण है । परन्तु सम्यक्त्व बिना अणुब्रत, महाब्रत दोनों साक्षात्, परम्परा कहे हो मोक्ष का कारण नाहीं । तातें परभाव त्याग निज भाव में लिछि हेय उपादेय बुद्धि लाय बीतराग स्वसंबोद्धन ज्ञान गोचर निज आत्मा ताहि तु निरन्तर अनुभव कर क्योंकि राग, क्रेष मोह भाव तें कछू सिद्धि नाहीं ॥५४॥

विरला जाणहि तत्तु बुद्ध विरला खिसुणहि तत् ।

विरला झायहि तत्तु जिय विरला धरइ तत् ॥५५॥

विरला जानन्ति तत्वं बृधाः विरलाः निःशूरवन्ति तत्वं ।

विरलाः ध्यायन्ति तत्वं जवि । विरला धारयन्ति तत्वं ॥५६॥

अन्वयार्थ—(विरला) कोई विरले विवेकी ही (तत्) तत्त्वात्मतु के यथार्थ स्वरूप को, (जाणहि) जानते हैं । (विरला

बुद्ध) कोई विरले बुद्धिमान् ही (तत्) संसार, शहिर, प्रेमादात, तत्त्वचर्चा, मनोक्षिप्ति, इन्द्रिय इमन, कपाय परित्याग आदि में से सार भाग को (णिसुणहि) ध्यान पूर्वक रुचि और प्रेम के साथ सुनते हैं । और (विरला) कोई विरले आत्मध्यानी (तत्) जीव, जीव कर्म सम्बन्ध, जीव सुकृताय रूप सारतत्त्व को (खायहि) ध्यान में लाते हैं, चिन्तन करते हैं और (विरला) कोई विरले ही (तत्) तत्त्व स्वात्मावलोकन में आत्मनिष्ठा बारण करते हैं ।

टीका—श्री योगीन्द्राचार्य भवयनि प्रति उपदेश कहै हैं । जौ भवयजन हो या पंचम काल तथा इस भरतक्षेत्र में श्री जिनेन्द्र भगवान् करि दिव्य इवनि में उपदेश दीया ताहि कोई एक विरला हो भवय जीव सुनै, मानै है । तत्त्व को जानै है । कोई विरला ही तत्त्व को ध्यावै और कोई विरला ही तत्त्व स्वरूप होय तत्त्व को धारै है । **भावार्थ**—प्रथम तो या जीव के धर्म योग्य पर्याय, इन्द्रिय मन को प्रौढ़ता, दीर्घायु, उच्च कुल, भद्र जाति, निरोग शरीर, धर्म बुद्धि, सत्संगति, धर्मक्षेत्र, धर्म सेवन काल, सच्चे गुरु का उपदेश आदि सामग्री मिलनी दुर्लभ है । तिनमें हूँ एक शुद्ध निज आत्मा का जानना महा दुर्लभ है । मति श्रुत, अवधिज्ञानी, देव, इन्द्र, नीचली ग्रैवेयक के अहमिन्द्र, नारकी

तथा मनुष्य, सुनि व्रतधारी, द्रव्यलिंगी अथवा जैनशास्त्र का अभ्यास कर, व्यवहार-निश्चय नय करि प्रमाण, निष्ठेप आदि तत्त्वार्थ के स्वरूप के प्रतिपादन करनेवाले के उपदेश तें अन्य जीव को तत्त्वज्ञान होय । परन्तु जीव का स्वरूप, प्रमाण, नय करि जो कहा है सो ही “मैं हूँ” “मेरा इसा भाँति स्वभाव है” ऐसा जानना कोई के ही होय है सत्थके न होय है । तथा अनेक प्रकार का उपदेश ताहि सुनिकर कोई बिरला हो आत्मतत्त्व के कथन को रुचि सों सुनै है । कोई बिरला हो सुनि के मन में यथार्थ जानि आत्मतत्त्व को ध्यावै है । कोई एक ही अशुद्ध परिणति को त्यागि, जैसे जिन-देव ने कहा ताहो भाँति, निज तत्त्व को सुनि यथार्थ जानि निज स्वभाव में लीन होय कर्म का लिय कर स्वभाव रूप को धारै है । भावार्थ—कोई भव्य चिदेह लेन्न में जाय एक भव लेय मोक्ष पावै तो शीघ्र हो पावै है ॥६६॥

इहु परियण ख हु महतयहु इहु युह दुख्वह हेऽ ।
इम चितंतह कि करह लहु संसारह छेऽ ॥६७॥

(४८)

अयं परिजनः न हि महान् पुनः अयं सुखदुःखस्य हेतुः ।

एवे चिन्तयन् कि करोति लघु संसारस्य छेदम् ॥६७॥

अन्वयार्थ—(इहु) यह (परिणाम) अपना कुड़मी है, यह (यहु) अपना सगा सम्बन्धी नहीं है, यह (महात) महान है, यहा है पूज्य है, धनी है, यह (गहु) नहीं है, (इहु) यह (सुदृढक्षमह) सुख का और यह दुःख का (हेतु) कारण है (इम) इस प्रकार (विवेतह) विचार करता हुआ (कि) क्या तू (लहु) शीघ्र (संसारद) संसार का (छेत्र) छेद-विनाश (करइ) कर सकता है ? इससे तो और भी अधिक तेरा संसार परिव्रमण बढ़ता जा रहा है ।

टीका—हे योगिन ! ऐसे विचार करि कहा सिद्धि है । जो ये मेरे परिजन हैं तथा यह मेरे देह है । तथा ये मेरे शश्रु हैं । तथा ये मेरी वस्तु वहीं थे पर हैं । ये चेतन अचेतन पदार्थ सुख दुःख के कारण हैं । ये सुखदाई हैं, ये दुःखदाई हैं । इनते राग, द्वेष, मोह दूर कर निज स्वरूप में अपने देखन-जानन रूप ज्ञान परिणामन कर तथा पर वस्तु को भी देख जान । एर विष्णु हेय उपादेय बुद्धि को त्याग ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध धारि जो मोक्ष होय संसार के अन्त पहुँचे । घोर-बेदना तें छूटै ॥६७॥

इदं फणिदणर्दिय वि जीवह सरण ए हुंति ।

असरणु जाणिवि मुणिधवला अप्या अप्यु मुण्टि ॥६८॥

इन्द्रफलुमिन्द्रनरेन्द्रा अपि जीवस्य शरणं न भवन्ति ।

अशरणं ज्ञात्वा मुनिघबला आत्मनात्मीनमेव मन्त्रते ॥६८॥

अन्वयार्थ—(इदं) इन्द्र (फणिद) नागेन्द्र-धरणेन्द्र (एरिदय) राजराजेश्वर (वि) भी (जीवह) प्राणी को (सरण) शरणदाता-रक्षक . (ए) नहीं (हुन्ति) होते हैं इसलिए (मुणि घबला) मुनि पुङ्गव अपने का सर्वथा (असरण) अरक्षित, असहाय (जाणिवि) जान करके (अप्या) अपने आत्मा का ही अर्थात् अपने आपको ही (अप्यु) अपना रक्षक (मुण्डति) मानते हैं ।

अर्थात्-कर्म-शृङ्खलाओं से जकड़े हुये जीव को देवी-देवता कोई भी शरणदाता नहीं है । आत्मा ही स्वतः यदि पुरुषार्थ करे तो कर्म-जंजीरों को तोड़ कर मुक्त हो सकता है । आत्मा अपने आप ही अपनी रक्षा करने में समर्थ है । दूसरा कोई नहीं । अतः जीवमात्र को संसार चक्र से छूटने के लिये प्रयत्न करना चाहिये । और आत्म-ध्यान करके आत्म-ज्योति प्रगट करनी चाहिये । आत्मनिधि आत्म-गवेषण से ही मिल सकती है । किसी की सेवा पूजा या दया-कृपा से नहीं ।

टीका—इस जीव को स्वर्गलोकवासी इन्द्रादिक देव तथा भवन ब्रह्म-भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देव इन्द्रादिक वा मनुष्यादि में चक्रवर्ती राजा महा प्रचरण बली सो भी किसी को शरणदाता नहीं । काहे तें सब जीवों के आयु का अन्त

होय तब कोई राखने को समर्थ नहीं । ताते आत्मा को अशरण जानि । आत्मा को आत्मा ही रारण है । अतः मन के विकल्प त्याग कर स्थिर होय आत्मा को अनुभव करो तो सुखो होय । जंजाल सों छूटै ॥६८॥

इक क उपजज्ञ इकु मरइ दुःख सुह भुंजइ इकु ।

गरयह जायह इक क निय तह शिवाणह इकु ॥६८॥

एक उत्पद्धते एकः प्रियते दुःखसुखे भुंजते एकः ।

नरकंयाति एकः जीव ! तथा निर्वाणं एकः ॥६९॥

अन्वयार्थ—(इक क) प्राणी अकेला ही (उपजज्ञ) जन्म लेता है (इकु) अकेला ही (मरइ) मरता है । (इकु) अकेला ही (दुःख सुह) दुःख और सुखों को (भुंजइ) भोगता है । (गरयह) नरक भूमि में भी (जीव) जीव (इक) अकेला ही (जायह) जाता है । (तह) तथा (शिवाणह) मोक्ष को भी (इकु) अकेला ही प्राप्त करता है ।

टीका—यह जीव अनादि काल तेरे या संसार में चार गति, चौरासी लाख योनि में अमण करता सन्ता एकला ही जन्म धारै है, कोई दूसरा साथ न आवै है । घहुरि देह तजि एकला ही अन्य पर्याय प्रतिगमन करि मरण पावै है । घहुरि पुण्य तेरे एकला ही आप स्वर्ग जाय, पाप तेरे एकला ही नरक

गति भोगवै है युण्य, पाप दोनों के मेल से मनुष्य, पशु गति पावै है। तर्हाँहूँ एक ही सुख दुःख सहेता काल नमावै है। तातें हे जीव ! जो तू पर बस्तु में अपनायत बुद्धि त्याग करै तो शीघ्र ही अनन्त सुख स्वभाव रूप साध्य अवस्था ताहि एकला ही पावै। तातें परबस्तु विष्णु अर्हं बुद्धि तथा ममकार मोह तें विभाव रूप जो परिणाम है निन्हें त्याग कर। ये दुःख रूप व दुःख के कारण हैं जो निश्चय से जान। आत्मा, आत्मा का स्वरूप, स्वभाव और सुख क्या है सो जान ॥३६॥

इक्कलहु जह जाइसइ तो परभाव चपदि ।
अप्या भायह खाणमउ लहु सिव सुक्ष्म लहेदि ॥३०॥

एकाकी यादि जायसे तादि परभावे त्यज ।
आत्मानं ध्यायस्व ज्ञानमये लशु शिवसुखे लभस्व ॥३०॥

अन्वयार्थ—(जह) जब आत्मा (इक्कलहु) अकेला ही (जाइसइ) उत्पन्न होता है। अकेला ही मरता है अकेला ही सुक्ष्म होता है (तो) तो (परभाव) परद्रव्यों में ममत्व परिणाम (चयेहि) छोड़ और (खाणमउ) ज्ञानमयी (अप्या) आत्मा को (भायह) ध्यान कर जिससे कि (लहु) शीघ्र ही (सिवसुखे) मोक्ष सुख—पूर्णानन्द को (लहेदि) प्राप्त कर लेवे।

टीका—यह जीव अकेला ही जगद्जाल में
अमण करता सन्ता तन, मन व्यथा सम्बन्धी महा
दुःख भोगता चार गति चौरासी लाख योनि में रुलता
सन्तापरूप होय है। परब्रह्म पढ़ा तड़फ-तड़फ क्लेश
महै है। उस दुःख तें निवृत्त हुआ चाहै तो परभाव,
औपाधिक कर्म जनित औदयिक भाव, शुद्ध भाव
तें भिन्न दुःख रूप दुःख के कारण जान हेय मान
त्याग कर शुद्ध रूप वीनराम भाव कर ज्ञान-गोचर
निज आत्मा ताहि निर्विकल्प दशा कर ध्यान करो
अनुभव करो ज्यो लघुकाल में मोक्ष कहिये कर्म
ज्य तें उपजा सहज अनन्त स्वाभाविक निरावाध,
अनुपम, अविनाशी, शान्त, रस, रूप, इन्द्रियानीन,
आदि अन्त रहित आत्मिक सुख ताहि प्राप्त होय।
यामें वाह्य द्रव्य का साधन कछु नहीं आत्म-
स्वभाव रूप तातें स्वाधीन सुख पावै है। चिरकाल
अनन्त सुख भोगवै है ॥७०॥

जो एउ वि सो एउ मुणि सद्व वि कोइ मुण्डे।

जो पुरण वि घाउ वि भण्ड सो बुद को वि हवेह ॥७१॥

यः पापमयि तत्पापि मत्वा सवौषि कश्चित् मनुते ।

यः पुरणमयि पापमेव भण्डति स बुधः कश्चिदेव भवति ॥७२॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (पात्र) पाप है (सो) उसे (पात्र) पाप (मुणि) मान करके (सब्ब वि कोइ) सब ही कोई पाप (मुणेइ) कहते हैं परन्तु (जो) जो (पुण्य वि) पुण्य को भी (पात्र वि) पाप ही (भण्टइ) कहता है (सो) ऐसा (बुद्ध) बुद्धिमान् (को वि) कोई विरला ही (हवेइ) होता है । क्योंकि पाप और पुण्य दोनों ही संसार बन्धन के कारण हैं । लांडे और स्वप्न घेड़ी के समान हैं ।

टीका—जो पाप को पाप कहि निन्दे पुण्य को पुण्य कहै, स्तवै, भलौ कहै सो जगत् में सबै ऐसे ही भण्टे हैं । परन्तु अशुद्ध परिणति स्वरूप पुण्य पाप का विशेष भेद रहित निन्दे है सो जगत् में कोई विरले पुण्य हैं । सावधि—जगत् ग आ-चाल-गोपाल मन्द कषाय रूप विशुद्ध भाव रूप पुण्य परिणाम ताहि भला कहैं तथा उदय आये शुभ संयोग मिले ताहि मनोज्ज भण्टे हैं । तीव्र कषाय रूप अशुभ परिणाम पाप ताहि सब ही निन्दे हैं तथा उदयकाल कहुक संयोग मिले ताहि बुरा कहै हैं । परन्तु वे शुद्ध विरले हैं जो पुण्य पाप को निज शुद्ध परिणति तें भिन्न जाति, बन्ध के कारण मान हेय जान त्याग करै हैं । ते जगत् में अन्य हैं और विरले हैं । याते हे आत्मन् निज

भाव रूप तिष्ठि परविष्टे ममत्वं धारि दुखी मत
होऊ ॥७१॥

जह लोहमिमय गियडहा तह सुहणमिमय जाणि ।

जे सुह असुह परिचवयहि ते वि हवंति हु णाणि ॥७२॥

यथा लोहमये निगलं तथा सुवर्णमये जानीहि ।

ये शुभं अशुभं परित्यजन्ति ते भवंति हि ज्ञानिनः ॥७३॥

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (लोहमिमय) लोह की बनी हुई (गियडहा) बेड़ी हैं (तह) वैसे ही (सुहणमिमय) सोने की बनी हुई भी (जाणि) समझो । लोह-सोन दोनों की बेड़ी की तरह (जे) जो भद्र (सुह असुह) शुभ और अशुभ दोनों को (परिचवयहि) छोड़ते हैं (ते) वे (वि) ही (णाणि) ज्ञानी (हवंति) होते हैं ।

टीका—भो बुद्धिवन्त प्राणि हो ! जैसी लोहमयी निगड़ कहिये बेड़ी तैसी ही सुवर्ण मय बेड़ी जानों । जो साँसारिक सुख दुःख ते परिचयवान् हैं, आत्मिक सुख को न परचै हैं, नहीं अनुभव्यै उस जीव का ज्ञान भेद ज्ञानरूप नहीं गहल (पागल) समान ज्ञान जानना । यात्रार्थ—जैसे किसी पुरुष को बन्धन करने को हाथ पाँच गले में बेड़ी गेरी ताहि सङ्कछन्द होने की रोक करी, पराधीनता रूप प्रवृत्ति राखी ता पुरुष को लोह

की तथा सुवर्ण की बेड़ी का कहा विचार । तथा जैसे काहू मजूर पै बोझ धरा । तहाँ बाकी रत्न तथा पत्थर का कहा विचार । वह तो बोझ तें महाक्षेत्र भोगबै है । तैसे ही कर्म वन्धन या जीव के हैं । सो पुण्य पाप प्रवृत्ति के अनुसार पर्याय पावै है । तहाँ कर्म तें मोक्ष होने को पुण्य पाप दोनों ही समर्थ नहीं । ऐसा ज्ञान न होते सन्ते पुण्य पाप को भला बुरा जानि रागद्वेष रूप प्रवर्ते सो ज्ञान श्रेष्ठ नहीं, मोक्ष का कारण नहीं, ऐद विज्ञान नहीं स्व-पर का जनावनहारा नहीं । ताते प्रशस्त नहीं । कर्मवन्ध का कारण होवे तें महाक्षेत्रकारी ही है ॥७२॥

जइया मरणु णिगांथ जिय तइया तुहु णिगांथु ।
जइया तुहु णिगांथ जिय तो लभ्मइ सिव पंथु ॥७३॥

यावन्मनो निर्धन्यः जीव तावत्वं निर्धन्यः ।

यावत्वं निर्धन्यः जीव ततः लभ्मे णिवन्यानं ॥७४॥

अन्वयार्थ—(जिय) है जीव ! (तइया) जब तेरा (मरणु) मन अन्तरंग आशा अभिलाषायें छोड़ कर (णिगांथ) निःपरिग्रह हो जायगा (तइगा) तब ही (तुहु) तू भी (णिगांथ) निःप्रन्थ परिग्रह रहित समझा जायगा और (जइया)

जब वास्तव में (तुहु) तू (णिगंथ) निर्गन्थ, निशुद्ध, निरभिमान होजायगा (तो) तब (सिव) मोक्ष-रूप बन्धन रहित हो जाने के (पंथ) मार्ग को शीघ्र ही (लब्धि) प्राप्त कर लेगा । (जिय) हे मुमुक्षु ! यह भली भाँति समझ ले ।

टीका—हे योगीजन ! जिन सुनीश्वरनि का मन निर्गन्थ है तिनहो का तन भी निर्गन्थ होय है । जिनका मन निर्गन्थ होय तन निर्गन्थ हुवा है सो ही योगी मोक्ष का पंथ पावै है । मावार्थ—जो परवस्तु में चाह सो ही परिग्रह है । जिनकी चाह परवस्तु से हट गई निज स्वभाव में प्रगट भइ सो ही योगी सुसार, देह, भोग, लक्ष्मी का त्याग कर परवस्तु से विरक्त होय निर्गन्थ भये हैं । सो ही मोक्ष पंथ को पावै हैं ॥७३॥

जं बड़मज्जह बीज फुडु वीयह बड़ विहु जाणु ।

तं देहे देउ वि मुण्डि जो तद्लोय पदाण ॥७४॥

यथा बटमध्ये बीजं स्फुटं बीजे बट मपि जारीहि ।

तथा देहे देवं सन्यस्त्र य श्रिलोकस्य प्रधानम् ॥७५॥

आन्वशार्थ—(जं) जैसे (बड़मज्जह) बट बृक्ष में (बीज) बट का बीज (फुडु) स्फुट है, प्रगट है तैसे (वीयह) बीज में (बड़ विहु) बट बृक्ष भी (जाणु) जगनना आहिये और (तं) जैसे ही (देहे) शरीर में (देउ वि) आत्म-देव भी (मुण्डि) स्त्रीकार

करो (जो) जो (तइसोय) तीन लोक में (पहाणु) प्रधान है । आत्मा ही तीन लोक का प्रभु है । अतः यही महोत्कृष्ट देव है । अन्य सब मिथ्या देव हैं ।

टीका—जैसे बट वृक्ष के विषे धीज रहे हैं और धीज तें बट की उत्पत्ति होय है तैसे ही देह विषे आत्मदेव है, ताहि जो स्वसंबेदन जान करि लक्षण-चिन्ह छारा प्रभट जानि अनुभवै सो लक्षुकाल में तीन लोक में सार समयसार पद जो परमात्म पद ताहि पावै है । भावार्थ—जैसे बड़ के वृक्ष में बड़ के धीज का सद्ग्राव है । काहे तें ? फल काल में बड़ का फल होय है । तैसे ही देह रूप मन्दिर में चिदानन्द आत्मदेव जो अनुभव गोचर करै सो शुद्धता के योग तें तीन लोक में शुद्ध पद-मोक्ष ताहि प्राप्त होय यह निःसन्देह जानो । उज्ज्वलता तें उज्ज्वलता होय है । निर्मल, पवित्र स्वानुभूति के बल तें स्वात्म सुख तत्काल ही मिलै है ॥७४॥

जो जिण सो हउं सो जिहउं यहड भाड खिभंतु ।

मोक्षाद कारण जोइया अण्णु ण तंतु ण मंतु ॥७५॥

यो जिन; सोउहं सोउथहं एतत् भावम निर्भान्तं ।

मोक्षस्य कारणं योगिन् अन्यो न तन्त्रो न मंत्रः ॥७५॥

(१०८)

अन्यथार्थ—(जो) जो (विष) जिन-इन्द्रिय विकार, अज्ञान, राग-द्वेष, काम कोषादिक भाव मोह-ज्ञानावरणादि कर्म का जीतने वाला जिनेश्वर भगवान् है (सो) वैसा ही (हड़) मैं हूँ (सो) वह भगवान् भी (हड़) मैं ही हूँ (एहड़) यह बात (एमंतु) निःसन्देह (भाउ) अनुभव करो, (जोइया) है योगिराट् (मोक्षह) मोक्ष का (कारण) साथन यही एक है । (अएगु) अन्य (तंतु) तंत्र और (मंतु) मंत्र कोई मोक्ष के कारण (ए) नहीं हैं ।

टीका—हे योगिन् अध्यात्म कथन का यही रहस्य मोक्ष का कारण है और अन्य तन्त्र मन्त्र नहीं । जो श्री जिनेन्द्रदेव-बीतराम, केवलज्ञानादि अनन्त गुण सहित, समयसार, परमात्मा, निरन्तर, निरावाध, अतीनिदिय सुख स्वरूप, विभाव परिणति तें रहित, शुद्ध-बुद्ध है वैसा ही मेरा आत्मा है या मैं सन्देह नहीं । जिन सो मैं अरु मैं सो जिन, समानता लिये हैं । मैं मेरा आत्मा सो जीव, जीव सो मैं । शब्द भेद है । वस्तु भेद नहीं । काहे तें ? संसारो जीव ही सुक्त होय है । तथा जब शुद्ध भाव धरै तब शुद्ध । अथवा सदा हो शुद्ध निश्चयमय करि बन्ध, सुक्त नहीं । नित्य बन्ध होता तो सुक्त कैसे होता ।

तातें शक्तिरूप शुद्ध ही है। ऐसा अनुभव कर
मृग्यवरूप प्रवत्ते सो लघु काल में स्वभाव की
पूर्णता को पावै है, कर्मबन्ध का नाश कर चिर-
काल पर्यन्त अनन्त सुख भोगवै है ॥७६॥

दे ते चउ पंच वि एवह सत्तह छुह पंचाह ।
चउगुणसहियउ जो मुणइ पहउ लक्खण जाह ॥७६॥

द्वि वि चतुः पंच द्वि नव सप्त पद् पंच ।

चतुर्गुणसहिते जो मनुन एतललक्षण यस्य ॥७६॥

अन्त्वयाथ—(दे) दो (ते) तीन (चउ) चार (पंच)
पाँच (वि) दो (एवह) नव (सत्तह) सात (छह) छै
(पंचाह) पाँच और (चउगुणसहियउ) चार गुण महित (जो)
जो आत्मा को (गुणइ) मानता है वही सत्य अद्वालु है और
(पहउ) वही (जाह) जिसका (लक्खण) लक्षण है, वही
आत्मा है ।

दूसिका—आत्मा के ये लक्षण भेद लिये
जानो । जो चैतन्य गुण महित है सो आत्मा है ।
प्रथम तो असाधारण चैतन्य रूप उपयोग लक्षण
का धारो अनुभव बहुरि नाही उपयोग के ज्ञान
दर्शन विशेष लिये दो भेद, बहुरि सम्प्रदाशन,
ज्ञान, चारित्र रूप, तीन लक्षण चार भेद अनन्त
चतुष्टय-ज्ञान दर्शन सुख बीर्य जानो, बहुरि पंच

भेद रूप ज्ञान परिणमन करि पाँच लक्षण अथवा पंचास्तिकाय के निरूपण तें पंच लक्षण, छह द्रव्य की कथनी तें छह भेद रूप, सप्ततत्त्व के भेद से सप्त लक्षण वा सप्त तत्त्व के प्रतिशोधन तें सप्त लक्षण, नव क्रेवल लक्षण से नव लक्षण । ऐसे अनन्त लक्षण युक्त आत्म द्रव्य अनुभव कर । सुख, सत्ता, चैतन्य, व्रोध, शङ्ख परिण-अन्, स्वात्मा-नुभवि, स्वभावोपलक्षण, परम शान्ति आदि आत्मा के अनन्त गुण ही उसके लक्षण हैं ॥७६॥

वे छुंडिवि वे गुण सहित जो अप्पा खिवसेइ ।
जिणसामित एमहभणइ लहुणिव्याण लहेइ ॥७७॥

द्वीत्यक्तवा द्विगुणसहितः यः आत्मानि निवसति ।

जिनस्वामी एवं भणाति लघुनिर्वाणं लभते ॥७८॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (वे) दो दोषों को (छुंडिवि) छोड़कर (वे गुण सहित) दो गुण सहित (अप्पा) आत्मा में (खिवसेइ) निवास करता है । (जिण सामित) जिण स्वामी ने (एमइ) यह (भणइ) कहा है कि वह (लहु) शीघ्र (खिव्याण) निर्वाण (लहेइ) प्राप्त करता है ।

टीका—जो राग द्वेष दो दोषों को छोड़कर ज्ञान दर्शन दो गुण सहित आत्मा में स्थिरीभूत होय-निवसे

सो आत्मा लघुकाल में निर्वाण पावै । इम श्री जिनवर ने कहा है । मात्रार्थ—जो कोई जीव का अज्ञानादिक विभाव परिमनि तिनको जीव का लक्षण, पुद्गलनि की पलटनि रूप अवस्था को जीव की पलटनि अवस्था तथा पुद्गल विषें तथा पुद्गलनि के निमित्त विभाव भाव तिन को जीव के भाव जानै सो आत्मा संसार से पार करै ही म होऽथ । जो जीव को शुद्ध ज्ञान रूप जानै सो ही मोक्ष पावै । ताते शुद्ध ज्ञान ही आत्मा की मुक्ति कही है ॥७७॥

तिहरहिओ तिहगुणसहित जो अप्पा खिवसेइ ।

सो सासयसुह भायगु वि जिणवर एम भणेइ ॥७८॥

त्रिरहितः त्रिगुणसहितो य आत्मा वसति ।

स शाश्वत सुखभाजनं आपि जिनवरः एवं भणति ॥७९॥

अन्त्वयार्थ—(तियरहिओ) तीन दोषों से रहित और (तिहगुणसहितो) तीन गुणों सहित (जो) जो (अप्पा) आत्मा में (खिवसेइ) निवास करता है (सो) वह (सासय सुह भायगु) शाश्वत सुख का भाजन होता है । (जिणवर) श्री जिनवर देव (एम) इस प्रकार (भणेइ) कथन करते हैं ।

टीका—जो निज आत्मा को रब्रब्रय स्वरूप अनुभव कर ध्यावै है । राम, छेष, मोहभाव-

तथा मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम भाव स्वभाव
ते भिन्न मान त्याग है सो आत्मा शाश्वते
सुख को अनुभवै भोगबै हैं ऐसे जिन देव ने
दिव्यधर्मनि में कहा है सो जानो ॥७६॥

चड कसाय सरोला रहित चडगुण सहित्रो वुत्तु ।

सो अप्पा मुणि जीव तुहु जिम पर होइ पवित्रु ॥७७॥

चतुः कषाय सज्जा राहितः चतुर्गुणसहित उक्तः ।

तमात्माने मनु जीव । त्वं येन परः भवसि पवित्रः ॥७८॥

अन्वयार्थ—(चड कसाय सरोला रहित) चार कषाय और
चार संज्ञा से रहित तथा (चडगुण सहित्रो) चार गुण सहित
आत्मा (वुत्तु) कहा गया है । (सो) उम (अप्पा) आत्मा
को (जीव) हे जीव (तुहु) तू (मुणि) ठोक-ठोक समझ ले
(जिमि) जिससे कि तू भी (पर) परम (पवित्रु) पवित्र
परमात्मा (होइ) हो जावे ।

अर्थात् आत्मोपलक्ष्य के लिये यह नितान्त आवश्यक है
कि आत्मा के स्वामादिक गुणों का पूर्ण ध्यान किया जावे ।
और वैभाविक दोषों से आत्मा को सर्वया प्रथक् समझ जावे ।
आतएव आचार्य शिक्षा देते हैं कि आत्मा कांच मान, माया
और लोभ इन चार कषायों से तथा आदार, भय, मैथुन और
परिप्रह इन चार संज्ञाओं से रहित है एवं राग, द्वेष,
मोह, जुधा तथा निद्रा आदि दोषों से भी रहित है । कर्म मल से
विहीन पूर्ण शुद्ध है । तथा सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, सुख,
वीर्य आदि गुणों से सहित है । आत्मा गुण समूहात्मक है ।

गुणों का पिण्ड है। गुणमय है। गुणों के अतिरिक्त वह कुछ नहीं है, प्रत्येक द्रव्य अपने गुण का अन्वयो होता है। गुणों का परिणामय पर्याय कही जाती है। आत्मा की नर, नारक, मिथ्यादि पर्यायें हैं। और ज्ञान, कर्शन, सम्यक्त्व, सुख, चीर्ण, सूक्ष्मत्व, अवगाहत्व, अव्यावाधत्व आदि अनन्त गुण हैं। गुण के समुदाय को द्रव्य होने से आत्मा भी गुण समुदाय है।

टीका—जिन देव ने आत्मा, चार कषाय-कोष, मान, माया, लोभ; चार संज्ञा-आहार, भय, मैथुन, परिग्रह तिन से रहित और चार गुण-सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध तथा अनन्त चतु-शृणु-हात, हर्ता, चीर्ण, सुख, निन करि सहित चताया है जो मनुष्य आत्मा को गुण सहित और दोष रहित मानि अपनी आत्मा को तदूप अनुभव करै सो हो कर्मफल तें रहित-पवित्र शोय प्रभु पद पावै ॥७६॥

वे पंच विरहियउ मुणहि वे पंचह संज्ञुत ।

वे पंचह जो गुण खदिओ सो अप्या णिरु उत्तु ॥८०॥

द्विपंच रहितं मनुत द्विपंच संयुक्तं ।

द्विपंचमियो गुणैः साहेत स आत्मा निन उक्तः ॥८०॥

अन्वयार्थ—(वे) दो और (पंच) पाँच दोषों से (विरहियउ) रहित आत्मा का (मुणहु) मानो। और (वे) दो और

(पंचह) पाँच गुणों से (संज्ञुत) सहित आत्मा को स्वीकार करो । (जो) जो (वे) हो और (पंचह) पाँच (गुण सहितो) गुण सहित है (सो) वह (अप्या) आत्मा (गिक) अपना ही (उत्तु) कहा गया है यानी मैं ही हूँ ।

टिकि—जिनेन्द्र देव ने आत्मा को राग, द्वेष विभाव से तथा पंच परावर्तन रूप संसार से रहित और दर्शन, ज्ञान, उपयोग संयुक्त वा पंच सिद्धत्व भाव सहित तथा चैतन्य आनन्द गुणमय अनन्त दानादिक गुण रूप अनेक गुण स्वरूप विभाव आदि अनेक दोष रहित कहा है । मात्रार्थ—इस आत्मा में गुण अनन्त हैं । परन्तु कर्म के उदय ते गुणनि की व्यक्तता न होय है । जब समय पाय विभाव भावनि को हेय मानि त्याग करै तब आत्मा का विशुद्ध स्वरूप अनुभव में आवै । जिनदेव ने आत्मा अनन्त गुणमय, अखण्ड, परमसुखी, अचिनाशी, पुण्य पाप रहित, कर्म कालिमा हीन और विशुद्ध ज्ञान पिण्ड कहा है । सोही तू उर में धारण कर ॥८०॥

अप्या दंसणु णाण सुणी अप्या चरणु विवाणि ।

अप्या संज्ञु सील लड अप्या पञ्चलाणि ॥८१॥

आत्मानं दर्शनं ज्ञानं मन्यस्य आत्मानं चरणं जानीहि ।

आत्मा संयमः शीलं तपः आत्मा प्रत्यारुपानम् ॥८२॥

अन्वयार्थ—(अप्पा) आत्मा (दंसणु) दर्शन है (ज्ञान)
ज्ञान है (अप्पा) आत्मा (चरण) चरित्र (विद्याणि) है।
(अप्पा) आत्मा ही (संज्ञु) संयम है (सोल) शोल है
(तउ) तप है (अप्पा) आत्मा (पञ्चच्छाणि) प्रत्याख्यान—
त्याग है।

अर्थात् यह सैद्धान्तिक नियम है कि गुण गुणी से भिन्न
नहीं रहता और गुणी विना गुण के नहीं होता। अतएव दर्शन,
ज्ञान, चरित्र, संयम, शील, तप, प्रत्याख्यान (वस्तु परित्याग)
आदि आत्मा के गुण भी आत्मा से भिन्न नहीं हैं। न उनका
आस्तित्व ही आत्मा से पृथक् शक्ति रखता है। जो आत्मा है
वही वे गुण हैं और जो गुण हैं वही आत्मा है। क्योंकि
गुण पर्याय समुदाय को ही वस्तु कहा गया है। आत्मा के
गुण ही आत्मबल हैं। अतः आत्मा जब स्वाभाविक गुणों में
परिणमन करता है तब गुद्धात्मानुभूति सहित स्वभावमय होता
है। कैभाविक परिणमन पर द्रव्य के निमित्त से है। अतः त्याज्य
हैं। स्वभावोपलक्षित स्वाभाविक परिणमन, स्वानुभव, स्वगुणाव-
लोकन आत्मा की निजी सम्पत्ति है वही सुख का भण्डार है।

टीका—श्री योगीन्द्र आचार्य दयालु होय शुद्ध
निश्चय नय के विषेश अभेद रूप धर्म, धर्मात्मक
वस्तु को व्याख्यान करते हैं। हे मुने ! जो तू दर्शन,
ज्ञान आत्मा ही को जान। चारित्र-विधान आत्मा
ही को मान। आत्मा ही शील, आत्मा ही तप,
आत्मा ही प्रत्याख्यान है। कहे तें ? आत्मा में

(११६)

अरु ज्ञानादिक गुणनि में प्रदेश भेद नहीं। द्रव्य गुण का संयोग संबंध नहीं, तादात्म संबंध है। वा लिना वह मही होय, संज्ञा, संख्या, नाम, प्रयोजन के बश तें भेद है। परन्तु वस्तु भेद नहीं है जैसे अग्नि अरु उषणता में अन्वयी संबंध है। दण्ड दण्डीवत् संयोग सम्बन्ध नहीं। वैसा ही आत्मा अरु गुणनि में अन्वयी सम्बन्ध है। ताते गुण हैं सो द्रव्य ही है। अभेद वस्तु में संकल्प करि व्यवहार नय करि भेद उपकार की विवेच्या करि द्रव्य गुण में भेद कहा है। निश्चय हृषि से आत्मा सर्वदा विशुद्ध स्वभाव, ज्ञानपिण्ड और स्वानुभूति गुणानुरत है ॥८२॥

जो परियाणह अप्य एठ सो पर चयहि णिभंतु ।
सो संणाण भुणहि तुहुँ केवलणाण्यि वुक्तु ॥८२॥

यः परिज्ञानाति आत्मानं परं स परं त्यजति निष्ठोन्तम् ।
तत्त्वज्ञानं मनुस्वत्वं केवलज्ञानिना उक्तम् ॥८२॥

अन्वयार्थ— (जो) जो भेद विज्ञानी (अप्य) आत्मा और (पह) आत्मा से भिन्न पर पदार्थों को (परियाणह) जानता है वह (णिभंतु) निःसन्देह (पर) पर वस्तु से समर्थ को (चयहि) त्याग कर देता है। (सो) उस स्व-पर के भेद विज्ञानी

का ज्ञान ही (संणाण) सम्यग् ज्ञान (मुणेहि) मानना चाहिये । (केवलणाणिं) केवल ज्ञानी वीतराग अहंदेव ने (बुत्) यही उपदेश किया है ।

टीका—जो योगीश्वर भेद ज्ञान की प्रवीणता करि आत्मा को परमात्मा जानै है । जो परमात्मा से परिचय करै है, यथार्थ परमात्म स्वरूप होय, साहजिक सुख स्वाद करि अकम्प निश्चल आत्म भाव में तिष्ठै है, सन्देह रहित होय, आत्मा को ध्याचै है सोही योगीश्वर बुद्धिमान् गुरुष है वही समाधि जो संन्यासनाकर संयुक्त जानै । स्वभाव में तिष्ठा योगी सोही समाधि में तिष्ठा स्वात्मा का अनुभव करे है ऐसा केवल ज्ञान के धारक भगवान् ने कहा है ॥८२॥

दंसण जहिं पिच्छयइ बुह अप्पा विमल मुण्ठनु ।

पुण पुण अप्पा भावियउ सो चाहित्त पवित्तु ॥८३॥

दर्शनं यत्र पश्यति बृधः आत्माने विमलं मनुते ।

पुनः पुनः आत्मानं भावयति तच्चारित्र पवित्रे ॥८३॥

अन्यथार्थ—(जहिं) जहाँ (बुह) बुद्धिमान् प्राणी (अप्पा) आत्मा को (पिच्छयइ) अब्लोकन करता है वहाँ (दंसण) दर्शन है सम्यक् अद्वा है । आत्मा के (विमल) निमल मुण्ठनु) स्वरूप को जानता है, स्वीकार करता है । वह सम्यक्

ज्ञान है और (पुण पुण) पुनः पुनः—बार बार (अप्पा) आत्मा की (भावियड) विशुद्ध भावों से भवना करना—अनुभव करना है (सो) वही (पावित्रु) पवित्र (चारित्र) चारित्र है ।

टीका—जो योगीश्वर दर्शन मात्र जो आत्म-तत्त्व ताकूं रुचि प्रनीति करि पेखते हैं वहुरि विमल-मल रहित आत्मा को महन्तपने जाने हैं बार-बार शुद्धात्म स्वरूप करि निज शुद्धात्मा को अनुभवते, भावते हैं सो ही आत्मा को पवित्र चारित्र जानो । आत्मा स्वयमेव वीतराग, निर्मल, रत्नत्रय स्वरूप एवं पूर्ण सुखी है ॥८३॥

रयणत्तमसंजुत्त जिड उत्तमतित्थ पवित्र ।

मोक्षह कारणजोइया अणणु ण तंतु ण मंतु ॥८४॥

रत्नत्रय संयुक्तो जीवः उत्तमतीर्थ पवित्र ।

मोक्षस्य कारणं योगिनः अन्यो न तन्त्र न मन्त्रः ॥८५॥

अन्वयार्थ—(रयणत्तम संजुत्त) रत्न त्रय से संयुक्त (जिड) जीव (उत्तम) अच्छा और (पवित्र) पवित्र (तित्थ) तीर्थ है । (जोइया) है ! योगाभ्यासिन् । (मोक्षह) मोक्ष का (कारण) कारण (अणणु) और कोई (ण) न सो (तंतु) तन्त्र है और (ण) न (मंतु) मन्त्र है ।

टीका—जो जीव रत्नत्रय-सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता संयुक्त हैं । वीतराग स्वसंबो-

दन ज्ञानकरि आत्मा अनुभव है सो ही जीव
उत्तम हैं, धर्मतोथे करि पवित्र हैं, और कर्म
बन्धन रहित जो निज रूप-मोक्ष ता के कारण
जानना । कहे तें ? निज भाव रूप प्रवृत्ति तें
कर्मवन्धन का अभाव होय है; विभाव परिणाम
तें बन्ध होय है । तातें मोक्ष का कारण और कोई
यंत्र, मंत्र, तंत्र नहीं तथा पुद्गलाश्रित किया कर
मोक्ष नहीं । पर वस्तु के जानन देखन में इष्ट
अनिष्ट बुद्धि करि मोक्ष नहीं । एक शुद्धात्मा के
अद्वान ज्ञान आचरण को एकता रूप वीतराग
ज्ञान मात्र जो रक्षाप्रय सो ही मोक्ष का कारण
जानों, सो हो उपादेय मान अर्हण करो जातें सुख
रूप प्रयोजन की सिद्धि होय । आत्मज्ञान की
जागृति तें आत्म संबोधन सुख होय है ॥८४॥

जहि अप्या तहि सयल गुण केवलि पम भण्ति ।
तिहि कारण प जीव फुडु अप्या विमल मुण्ति ॥८५॥

यत्र आत्मा तत्र सकल गुणः केवलिव एव भण्ति ।

तस्मात् कारणादिमेजविः स्फुटं आत्मानं विमलंमन्वते ॥८५॥

अन्वयार्थ--(जहि) जहाँ (अप्या) आत्मा है (तहि)
जहाँ (सयल) सर्व (गुण) गुण हैं । (केवलि) श्री केवली

भगवान् (एम) ऐसा (भर्णति) बर्णन करते हैं। (तिहि कारण) इस कारण (ए) हे (जीव) प्राणी (अप्य) आत्मा को (तुहु) निश्चय से (विमल) निर्मल (मुण्ठति) मानते हैं।

टीका—हे योगी ! बहुत कथनी का यही तात्पर्य है जहाँ अप्या कहिये शुद्ध, तुद्ध वीतरागता युक्त स्वभाव करि ज्ञानानन्द रूप जो आत्मा प्रवत्ते तहाँ सम्पूर्ण गुण पाइये । यह केवलि भगवान् मे कहा है । ताही कारण ते हे प्राणी अपने को-निज आत्मा को प्रत्यक्ष-प्रगटपने स्वसंबोद्धन ज्ञान ते रागादि ज्ञानावर्णादि कर्म, नोकर्म ते रहित, निर्मल, ज्ञान मयी, सुख पिण्ड, अविनाशी अमृतिक असंख्य प्रदेशी आत्मा को अनुभव गोचर कर, दृढ़ता से आत्मचिन्तन कर ॥८५॥

इककलहु इन्द्रिय रहित मणवयकायति सुद्ध
अप्या अप्य मुलेइतुहु लहु पावइ सिव सिद्धि ॥८६॥

एकाकी इन्द्रिय रहितः मनोवाक्काय त्रिशुद्धः ।

आत्मना आत्मन यनुस्व त्वं लघु प्राप्नोसि शिवसिद्धि ॥८७॥

अन्वयार्थ—(तुहु) तू (अप) अपने आप ही (अप्य) अपनी आत्मा को (इककलहु) अकेला-कुदुम्बादि से अलग (इन्द्रिय रहित) इन्द्रियों से रहित (मणवयकायति सुद्ध) मन,

बचन काय से रहित-शुद्ध (मुण्डे) मान जिससे कि (लहु) शीघ्र ही (सिव सिद्धि) मोह की सिद्धि (पाषड़) प्राप्त कर जे ।

टीका—हे योगी तू आत्मा को अकेला ही इन्द्रिय मन तें रहित जान, मन, बचन, काय रूप पर वस्तु के संयोग तें रहित अति शुद्ध मान । आत्मा की आत्म स्वभाव तें भावना आवे तो खम्भु काल में सिद्ध पद प्राप्त होय । गवार्थ—इन्द्रिय मन के द्वारैं सूर्तिक पदार्थनि को यह जीव किञ्चित् अस्पष्टपने, अनेक पराधीनता लिए, अप्रेश देखै, जानै है । तहाँ मोह के उदय तें राग-हेष लिये विभाव रूप परिणवै है । अनेक विभाव की पलटनि तें तथा शरीर की अवस्था तें अनेक रूप यह जीव होय है । गति, जानि, इन्द्रिय के संयोग तें अनेक अवस्था को धारै है । सो हे जीव । यह व्यवहार नय तें संसारी जीव की कथनी है और निरचय नय तें यह जीव शुद्ध स्वभाव को धारै है । अकेला ही शुद्ध, बुद्ध है । आत्मा के इन्द्रिय, मन, बचन, काय पुदगल रूप, कर्म के उदय तें उत्तराभये तिन तें रहित मान स्वसंवेदन जान करि आत्मा को अनुभव कर ।

ज्यों शीघ्र ही भरत चक्री की नार्ह मुक्ति पावै ।
परम सुखमय अवस्था को प्राप्त होय ॥८६॥

जह वंधउ मुक्तउ मुण्ड तो वंधियर लिभन्तु ।
सहज सरुवि जह रमइ तो पावइ सिव संतु ॥८७॥

यदि वन्ध मुक्त मन्यते तहिं वधनासि निभन्तम् ।
सहज सरुपे यदि रमइ तो पावइ सिव संतु ॥८८॥

आन्वयार्थ—(जह) जो (वंधउ) कर्म वंधन और (मुक्तउ) कर्म वंधन से मुक्ति (मुण्डइ) का ही मनन करता है (तो) वह तो (लिभन्तु) निःसन्देह (वंधियर) कर्म वन्ध ही करता रहता है । और (जह) जो (सहज सरुवि) स्वभाविक-शुद्धात्म स्वरूप में (रमइ) रमण करता है (तो) वह (संतु) सन्त-आत्मज्ञानी (मिव) मोक्ष को (पावइ) प्राप्त करता है । अर्थात् जो वन्धन और मुक्ति का ही विचार करता है वह तो पर वस्तु का विचार करने से कर्म वन्ध ही करता है परन्तु जो स्वभाविक शुद्धात्मा का चिन्तवन करता है वह कर्म काट कर मोक्ष प्राप्त कात है ।

टीका— जो प्राणी जीव को कर्म तें धैरा तथा कर्म तें मुक्त चिन्तवन करै है सो प्राणी तो निःसन्देह कर्म ते निरन्तर धैरा ही जान और जो सहज स्वरूप में तिष्ठै है, आत्मा में रमै है सो सुनि सन्त मोक्ष को पावै है । **भावार्थ—**जो जीव स्याद्वाद न्याय तें कर्थचित् वन्ध मोक्ष मानै, सहज

स्वभाव रूप प्रवत्ते हैं सो ही आत्मा लघु काल में
मोक्ष पावै है ॥८७॥

सम्माइट्टीजीवडह दुर्गाइगमणु ण होइ ।

जाइ जाइ वितो दोष णवि पुब्बक्षिड खबणेइ ॥८८॥

सम्यग्दृष्टि जीवस्य दुर्गति गमनं न भवति ।

यदि यात्यधि तदि दोषो नापि पूर्वकृतं क्षपयाति ॥८९॥

अन्वयार्थ—(सम्माइट्टी जीवडह) सत्य आत्म अद्वान धारी-सम्यग्दृष्टि जीवका (दुर्गाइ गमणु) दुर्गति-नरक तिर्यगति में गमन (ण) नहीं (होइ) होता है (जइ) यदि मिथ्यात्व दशा में नरकायुध्य तिर्यगायुध्य के बन्ध कर लेने के कारण दुर्गति में (जाइ वि) चला भी जाय (तो) तो (दोष) दोष (णवि) नहीं है । क्योंकि दुर्गति में भी वह सम्यग्दृष्टि जीव सम्यग्दर्शन की सामर्थ्य से (पुब्बक्षिड) पूर्वकृत पापों का तथा पूर्ववद्ध कर्मों का (खबणेइ) क्षय ही करता है ।

टीका—सम्यग्दृष्टि जीव सम्यकत्व के प्रभाव तें दुर्गति में नहीं जाय है । सुगति ही पावै । जो कदाचित् पूर्व मिथ्यात्व दशा में घन्ध करे तो दुर्गति में जाय तो हूँ दोष नाहीं । सम्यकत्व तें पूर्व संचित कर्मनि का क्षय ही करै है । जैसं राजा श्रेष्ठिक पूर्व वद्ध मिथ्यात्व तथा नरकायू के कारण नरक में गया सो सम्यकत्व विना महाघोर सप्तम

नरक की तेतीस सागर प्रमाण आयु चाँधी भी सो सम्यक्त्व के प्रभाव से, समुद्र में बूँद मात्र प्रथम नरक में चौरासी हजार वर्ष मात्र रही । अथवा अनन्त संसार परिभ्रमण करता सो एक भव रहा तथा तीन लोक जाहि बन्दे ऐसा तीर्थ कर पद धारी मोक्ष को पात् होलहार है । सो सम्यक्त्व की महिमा कहाँ लग कहें । ताते सम्यक्त्व गहि आत्म करपाण करो ॥८॥

अथसर्वद जो रमइ छंडवि सहुववहारु ।
सो सम्माइटी हवइ लहु पावइ भवपारु ॥८॥

आत्मस्वरूपे यो रमते त्यक्त्वा सर्वववहारम् ।
स सम्यग्दाइः भवति लघु प्राप्नोति भवपारम् ॥८॥

अन्वयार्थ— (अथ सर्वद) शुद्ध चेतन्य आत्म स्वरूप में (जो) जो भेद विद्वानी (रमइ) रमण करता है आत्मानुभवन कर आनन्दित एवं प्रसन्न होता है और (सहु ववहारु) धन-लृणा, कुटुम्ब मोह, उदरपूरण चिन्ता, विषय सेवा, कषाय प्रवृत्ति, भोगरुचि तथा सौंसारिक संकल्प विकल्प और अनात्म-ध्यान, पुद्गल उपासना आदि सर्व लौकिक एवं भौतिक व्यवहार को (छंडिवि) छोड़कर (सम्माइटी) सत्य आत्म श्रद्धानी शुद्ध सम्यग्दृष्टि (हवइ) हो जाता है । (सो) वह परम उद्योगी आत्म पुरुषार्थी (लहु) बहुत शीघ्र (भवपारु) जन्म मरण रूप संसार सागर के पार मोक्ष को (पावइ) प्राप्त कर लेता है ।

टीका—जो जीव सुनि पद धार निज आत्म स्वरूप में लीन होय, निज स्वभाव अमृत रस ताका आस्थादी अथा, सुखमय अतीन्द्रिय ज्ञान करि रमै अह भावै, छ्यवहार नय गति जाति आदि भाव तिनको छोड़ै, सो ही सम्यक् दृष्टि जीव शीघ्र ही मोक्ष पावै है ॥८६॥

अजरु अमर गुणगणणिलउ जहिं अप्पा थिर थाइ ।

सो कम्महिं ण वि बंधियउ संचियपुब्ब विलाइ ॥८७॥

अजरः अमरः गुणगणानिलयः यत्र आत्मा स्थिरः तिष्ठति ।

स कर्माणि मैव वधनाति संचितपूर्वाणि विलीयन्ते ॥८८॥

अन्वयार्थ—(जहिं) जो आत्मानुभूति में (अप्पा) आत्मा (अजरु) अजर (अमर) अमर और (गुणगणविलउ) अन्त सुखादि गुणों से पूर्ण होकर (अप्पा) आत्मा में ही (थिर) मग्न (थाइ) हो जाता है (सो) वह (कम्महिं) कर्मों से (ण) नहीं (बंधियउ) बँधता है । (वि) किन्तु (संचियपुब्ब) पूर्व समय में बँधे हुए सर्व कर्म (विलाइ) नष्ट हो जाते हैं ।

टीका—जो योगीश्वर चैतन्य स्वभाव आदि अजर अमर गुणनि समूह संयुक्त निज आत्मा को गहि स्थिरभूत होय सोही योगीश्वर नूतन कर्म को नहीं बँधै है । पहले कर्म बँधे हैं, तिन्हें खिपाचै है । भावार्थ—जो जीव के निज गुण के

समूहान को गहे । निज भाव में स्थिर हीय अपने
मन, वचन, काष की क्रिया को निरोधै है, स्वसंबेद-
दन ज्ञान करि निज भाव को अवलम्बै, उपयोग
को राग-द्वेष करि पदार्थनि में नहीं प्रवत्तीचै है ।
सोही कर्म को नहीं बाँधै है, वा बाँधे भये तिन्हें
खिपाचै है ॥६०॥

जो समत्पदाणु बुद्ध सो तद्लोय पदाणु ।
केवलणाण विसह लहइ सासय सुखल णिहाणु ॥६१॥

यः सम्यक्त्वं प्रधानः बुधः स श्रेत्रोक्त्य प्रधानः ।
केवल ज्ञानं अपि स लभते शाश्वत सुख निधानम् ॥६२॥

आन्वयार्थ—(जो) जो (बुद्ध) बुद्धिमान् (समत्पदाणु)
सम्यक्त्वं रत्न से विभूषित है (सो) वह (तद्लोय) तीन लोकों
में (पदाणु) प्रधान माना जाता है (सह) वही (केवलणाण)
सर्व लोकवर्ती सर्व पदार्थ गुण पर्याय और अलोक को प्रत्यक्ष
अवलोकन करने वाले असहाय केवल ज्ञान-पूर्ण ज्ञान और
(सासय सुखल णिहाणु) शाश्वत सुख के भण्डार मोक्ष को
(लहइ) प्राप्त कर लेता है ।

टीका—जो जीव सम्यक्त्व की प्रधानता में
प्रधान है । सो ही जीव, भो बुद्धिमान पुरुष हो !
तीन लोक में प्रधान है, जाके सम्यक्त्व नहीं सो
प्रधान नहीं । सोही सम्यक्त्वी जीव केवल ज्ञान

आदि अनन्त गुण को प्राप्त होय श। इवते मौक्ष सुख
निधान को पावै है। मात्रार्थ—तीन लोक तीन काल
में या संसार विषें महान् दुःख तिजते या जीव को
कोई सम्यक्त्व सिवाय दूसरा छुटावने का समर्थ
नहीं। ताते सम्यक्त्व ते ही जीव प्रधान होय है
और केवल ज्ञान पाय मौक्ष पावै अनन्त सुख
स्वरूप सदा काल निवसै है ॥६१॥

जह सलिलेण ण लिप्ययइ कमलिणि पत्त कथावि ।

तह कम्मेण ण लिप्ययइ जह रइ अप्प सहावि ॥६२॥

यथा सलिलेन न लिप्यते कमलिनी यत्रं कदावि ।

तथा कर्मणा न लिप्यते यादि रमते आत्म स्वभावे ॥६३॥

अन्वयार्थ—(जह) जैसे (कमलिणी पत्त) कमलिनी का
पत्र (कथावि) कभी भी (सलिलेण) जल से (लिप्ययइ)
लिप्त (ण) नहीं होता है, जल में रहते हुये भी स्वतः स्वभाव
से जल से भिन्न ही रहता है। (तह) वैसे ही (जइ) यदि
(अप्प सहावि) आत्म स्वभाव में जीव की (रइ) रति-प्रेम है
तो नाना विधि कर्म करते हुए भी आत्मध्यान के प्रभाव से भेद
विहानी जीव (कम्मेण) कर्म समूह से वा परिग्रह से (ण
लिप्ययइ) लिप्त नहीं होता है। अर्थात् संसार के मनुष्योचित
कर्तव्य करता हुआ भी आत्मज्ञानी भमकार अहंकार के अभाव
के कारण, फल प्राप्ति में दृष्ट विषाद रहित हुआ कर्म बन्ध नहीं
करते हैं।

टीका—जैसे सरोबर के जल समूह में कर्म-
लिनी का पश्च कभी बूढ़े नाहीं, जल स्पर्श नहीं,
जल तें अखिल रहे हैं, तैसे ही जो आत्मा निज
स्वभाव में रमै, ताहि कर्म न स्पर्श मके हैं, कर्मनि
करि नहीं लिप्त होय । कर्म नहीं थाँधे हैं ॥६३॥

जो समसुखगणितीण बुद्ध पुण पुण अप्य मुण्डे ।

कर्मक्षेत्र करि सो वि फुडु लहु गिब्बाण लहेइ ॥६३॥

यः समसुखनिलीनः बुधः पुनः पुनः आत्मानं मनुते ।

कर्मक्षयं कृत्वा सोऽपि स्फुटे लघु निर्वाणं लभते ॥६३॥

आन्वयार्थ--(जो) जो (समसुखगणितीण) सम भाव से
उत्पन्न सुख में लीन है, (बुद्ध) बुद्धिमान् भेद विज्ञानी है आत्म-
तत्त्व परीक्षक है, तथा (पुण पुण) बारम्बार (अप्य) आत्मा
का (मुण्डेहि) मनन करता है । (सो) वह (कर्मक्षेत्र) कर्मों
का द्वय करके (फुडु) शीघ्र ही (लहु) थोड़े काल में (गिब्बाण)
निर्वाण-मोक्ष को (लहेइ) प्राप्त कर लेता है ।

टीका—जो योगीश्वर समता भाव रूपी सुखनि
में लब्धीन हैं और बारम्बार ज्ञानादिक निज गुण
में लीन हुआ आत्मा को भावै है, पर भाव त्पागि
पर वस्तु में राग-द्वेष को त्पागै है, सोही बुद्धि-
मान् जन है । कर्म का त्वय करि साक्षात् शुद्ध
आत्म पद जो अरहन्त पद ताहि लघु काल में पावै

है, प्राप्त होय है । याहाँ—जो शक्ति इस अद्वृत का पान करता स्वभाव सुख में लीन हुवा यहुरि आत्मा को आत्म भाव करि भावै, अनुभवै, सो ही प्रगटपने कर्मनि का द्वय करि शीघ्र मोक्ष पावै है । चिरकाल अनन्त सुख विलसै है ॥६३॥

पुरुषायारुपमाणु जिय अप्पा पडु पवित् ।

जोइज्जइ गुणगिमलउ गिमलतेय फुरंतु ॥६४॥

पुरुषोकारप्रमाणः जीव आत्मा एषः पवित्रः ।

अवलोक्यते गुणनिर्मलः निर्मल तेजसा स्फुरन्तः ॥६४॥

अन्वयार्थ—(जिय) हे जीव ! (अप्पा) आत्मा (पुरुषायारुपमाणु) पुरुषाकार प्रमाण है, (पवित्र) पवित्र है । (गुणगिमलउ) गुणों से निर्मल है । ऐसा (जोइज्जय) देखो अनुभव करो जिससे (गिमलतेय फुरंतु) निर्मल तेज प्रगट हो ।

टीका—श्री योगीन्द्र देव कहे हैं, हे जीव ! पुरुष के आकार प्रमाण निज आत्मा को विचार यहुरि गुणगण करि आत्मा को ध्याव । ताते निर्मल स्वभाव को ज्योति स्फुरायमान होय । भावार्थ—चार गतिन में एक मनुष्य गति ते ही जीव मुक्ति पद पावै है । जहाँ जिस प्रमाण लिये मनुष्य आकार माव चैतन्य आत्म प्रदेशनि का समुदाय होय है

तहीं वा मनुष्य के आकार प्रभाण लिये सिद्ध क्षेत्र
में किंचित् ऊन प्रदेशनि का पुञ्ज रहे है। पर्याय-
बुद्धगलमयो उपाधि जनित सों स्वभाव परिणति
ते नष्ट हो जाय। कारण यिना कार्य न हो है।
ताते हे जीव ! तू असंख्यात प्रदेश का पुञ्ज ज्ञानादि
अनन्त गुणमय निज आत्मा को युरुषाकार अनुभव
कर उयों लघुकाल में शिव पावै ॥६४॥

जो अप्या सुद्ध वि मुण्ड असुइरर्विभिरणु ।
सो जाण्ड सच्छ्रद्ध समलु सासय सुक्खद्व लीणुः ॥६५॥

यः आत्मानं शुद्ध मर्यि मनुते असुचिशरीरविभिन्नम् ।
स जानाति शास्त्रं सकलं शाश्वतं सुल लीतः ॥६५॥

अन्वयार्थ—(जो) जो (अप्या) आत्मा को (सुद्ध) शुद्ध
तथा (असुइ भरीरविभिरणु) अपवित्र शरीर से पृथक् (मुण्ड)
मानता है। (सो) वह (समलु) सर्व (सच्छ्रद्ध) शास्त्रों को
(जाण्ड) मानता है और (सासय सुक्खद्व लीणु) शाश्वत
सुख में लीन होता है।

टीका—जो धोगी निज आत्मा को शुद्धता
लिये अनुभव है, अपवित्र देह को आपके द्रव्य गुण
पर्याय ते भिन्न जाने है। अर्थात् जो देह सों मैं
नहीं ऐसा चिन्तन करे है सो ही सकल शास्त्र

को जाने हैं और शाश्वत सुख में लीन होय है ॥६५॥

वज्जिय सयल वियप्पयहं परम समाहि लहंति ।

जं विददि साणंद फुडु सो सिव सुक्ख लहंति ॥६६॥

वज्जीयेत्वा सकल विकल्पान् परम समाधि लभते ।

यं विन्दाति सानन्दं स्फुटं स शिवसुखं लभते ॥६७॥

आनव्यार्थ—जो आत्मसुखःभिलाषी (सयल) सब (वियप्पयहं) विकल्पों को (वज्जिय) छोड़ करके आत्मध्यान रूप (परम समाहि) परम समाधि को (लहंति) प्राप्त करते हैं। तथा आत्मा को (फुडु) निश्चय से (साणंद) आनन्द रूप (विददि) अनुभवते हैं (सो) वे ही (सिव सुक्ख) मोक्ष के सुख को (लहंति) प्राप्त करते हैं।

ठाका—जो जीव बुद्धिमान् भेद ज्ञानो निर्मल भाव तें कर्म जनित राग द्वेष मोह जाल संकल्प विकल्पनि तें रहित होय है सो ही आत्मिक आनन्द में लीनता रूप मोक्ष सुख को प्राप्त होय है। **आवार्थ**—संकल्प विकल्प सब कर्म जनित राग द्वेष मोह जाल छोड़ि निर्विकल्प वीतराग अभेद रक्षन्त्रय रूप आत्मिक रम स्त्राद् अनुभव करना परम भाव रूप समाधि में लीन होय समाधि को लहै है सोही आत्मिक परम समाधि को प्रचुर महिमा तें मोक्ष पद को पावै है ॥६८॥

ओ पिण्डत्थु पयत्थु वह रूपत्थु ओ जिण उत्तु ।

रूपातीद लुणेहलहु लिव वह होइ अवित्तु ॥१५॥

यः पिण्डस्थं पदस्थं वुधः रूपस्थमापि जिनोक्तम् ।

रूपातीतं मनुतेलवु यस्मात् परो भवति पवित्रः ॥१६॥

अन्वयार्थ—(जो) जो योगी (जिण उत्तु) जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रतिपादन किये हुए (पिण्डत्थु) पिण्डस्थ (पयत्थु) पदस्थ (रूपत्थु) रूपस्थ एवं (रूपातीद) रूपातीतध्यान (मुण्डे इ) धारण करता है वह (लहु) शीघ्र ही (पर) परम (पवित्तु) पवित्र (होइ) हो जाता है । अर्थात् पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान करने से आत्मा के स्वरूप का वोध शीघ्र होता है । आकार रूप ध्यान को पिण्डस्थ, मन्त्र, बीज अल्पर रूप ध्यान को पदस्थ, सात्त्वात् अहंदूप ध्यान को रूपस्थ और रूप-आकार रहित निराकार सिद्ध समान आत्मध्यान को रूपातीत कहते हैं ।

टीका—भो बुद्धिमान हो । श्री जिनेन्द्र चन्द्र वीतराग देव ने धर्म ध्यान के चार भेद कहे हैं । १ पिण्डस्थ, २ पदस्थ, ३ रूपस्थ, ४ रूपातीत । इन ध्यानमतों निज आत्मा को अनुभवै, जानै सो जीव परम पद पाय पवित्र होय है । **मात्रार्थ—**जो सम्यग्ज्ञानी निज आत्मा को पिण्डस्थ ध्यान करि शुद्ध अनुभवै है । मंत्रनि करि शुद्ध आत्म वाचक शब्द करि आत्मा को अनुभवै तथा

शुद्ध सकल परमात्मा अरहन्त पद, अष्ट प्रातिहार्य विभव संयुक्त आकार सहित निज आत्मा को समान अनुभवै । यहुरि रूपातीत ध्यान करि निराकार निरंजन निलेय अमूर्तिक शुद्ध कुद्ध चैतन्य असंख्य प्रदेश मात्र आनन्द सुख पिण्ड सिद्ध समान आत्मा को अनुभवै है । सो लघु काल में शुद्ध पद में लीन होय है । महा पवित्रता को धारै है ॥६७॥

सब्बे जीवा गणेष्य जो समभाव मुण्डे ।

सो सामाइड जाण फुड जिणवर एम भण्डे ॥६८॥

सर्वेजीवाः ज्ञानमयाः यः समभावं मनुते ।

तत् सामयिकं जानीहि स्फुटं जिनवरः एवं भणति ॥६९॥

आन्वयार्थ—अब आचार्य निश्चय रूप से पंच प्रकार चारित्र का स्त्ररूप आत्म-ध्यान मय प्रगट करते हैं । (सब्बे) सब (जीवा) जीव (गणेष्य) ज्ञानमय हैं । ऐसा (जो) जो कोई (समभाव) सम भाव (मुण्डे) मानता है । (सो) वह उस जीव का (फुड) प्रगटरूप से (सामाइड) सामयिक है । ऐसा (जाण) जाना । (जिणवर) श्रीमज्जिनेन्द्र देव (एम) ऐसा (भण्डे) कहते हैं ।

टीका—जो जीव समभाव तें सबै प्राणिनि को ज्ञान द्युष करि समस्तपने समान जान समभाव

को धारै है । हीन अधिकरणा को नाहीं अवलोकै है । अनेक संकल्प विकल्पनि तें रहित होकर परम लमाशि तें लीन श्रेष्ठ है सो जीव इन्द्रिय जनित दुःख तें रहित होय आत्मिक आनन्द में लीन मोक्ष सुख को प्राप्त होय है । भावार्थ—संकल्प विकल्प सब कर्म जनित हैं ताते राग-द्वेष मोह जाल तिन्हें छाँड़ि निर्विकल्प बीतराग अभेद रक्षश्य रूप आत्मिक रस स्वाद अनुभव करता मोक्ष पद को पावै है ॥६८॥

रायरोस वे परिहरिवि जो समभाव मुण्डे ।

सो सामाइय जाण फुडु केवलि एम भण्डे ॥६९॥

राग रोषी द्वां परिहृत्य च, समभावे मनुते ।

तत्सामायिकं जानीहि स्फुटं केवजी एवं भणाते ॥६१॥

अन्वयार्थ—(रायरोस) राग और रोष-द्वेष (वे) दोनों को (परिहरिवि) छोड़ कर (जो) जो (समभाव) समभाव (मुण्डे) स्वीकार करता है । (सो) वह (सामाइय) सामायिक है । (केवलि) केवल ज्ञानी बीतराग अरहंतदेव ने (एम) ऐसा (भण्डे) कहा है । ऐसा (फुटु) निरचय (जाण) जानो ।

टीका—जो राग द्वेष दोनों अह मोह जनित औपाधिक भाव मिथ्यात्व अज्ञान असंयम तिन्हें

त्याग करि समभाव धारे है । सो सामाधिक का धारी योगी जिनवर में व्याख्यान कीना है । सो निर्भावन्त जानो । भावार्थ—शान्ति भाव धार राग द्वेष त्याग करे है सोही सामाधिकवन्त जानो ॥६६॥

द्विसादित परिहार करि जो अप्या हु ठबेह ।

सो वीअउ चारित्र मुणि जो पंचम गइ णेह ॥१००॥

हिंसादीन परिहारे कृत्वा यः आत्मानं स्थापयति ।

तद्विनीयं चारित्रं मन्त्रस्व यत्पञ्चमगति नयति ॥१००॥

अन्वयार्थ—(द्विसादित) हिंसा, असत्य, स्तेय, अवृद्धि और परिग्रह (परिहार) छोड़ (करि) कर (जो) जो (अप्या) आत्मा को (हु) निश्चय से आत्म स्वरूप में हो (ठबेह) स्थापित करता है । (सो) उसे (वीअउ) द्वितीय ब्रह्मोपस्थापना (चारित्र) चारित्र (मुणि) समझो (जो) वह (पंचम गइ) मोक्ष को (णेह) ले जाता है ।

टीका—जो जीव पंच पाप तें निवृत्त होय है, आत्म भाव में रियति करे हैं । सो ही बोतराग चारित्र के धारक जीव हैं, सो ही पंचम गति को प्राप्त होय हैं । भावार्थ—जो जीव अनन्तरंग परिणाम की भावना तें मन बचन काम करि निज पर की हिंसा का त्याग करे हैं, अरु तैसे ही असत्य-बचन, पर द्रव्यमात्र अहं, कुर्याल भाव, परिग्रह

तें ममत्व इन सबको कषाय भावनि सहित चाल्य
मन बचन काय की प्रवृत्ति रूप किया विशेष का
त्याग करै हैं, अन्तरंग में वीतरागता धारि दया,
सत्य, अचौर्य, शील, आकिञ्चन्य भाव धारि चाल्य
मन बचन काय की प्रवृत्ति तें निवृत्त होय हैं।
निज स्वरूप में स्थिरीभूत होय निष्कर्म्य होय हैं।
सो ही वीतराग चारिश्री पंचम गति को प्राप्त करें
हैं ॥१००॥

मिच्छादित जो परिहरण सम्मदंसणसुद्धि ।

सो परिहारविशुद्धि मुणि लहु पावह विश्वसिद्धि ॥१०१॥

मिथ्यादीनां यत्परिहरणं सम्यग्दर्शनशुद्धिः ।

सा परिहार विशुद्धिः सम्यस्त्र लघु प्राप्यस्यासि शिवसिद्धिम् ॥१०२॥

अन्वयार्थ—(मिच्छादित) मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम,
कषाय, मोह, द्वेष, राग आदि दुर्भावों का (जो) जो (परिहरणु)
परिहार करना है और (सम्मदंसणसुद्धि) सम्यग्दर्शन की
विशुद्धि धारणे करना है। (सो) वही (परिहार विशुद्धि)
परिहार विशुद्धि संयम (मुणि) समझना चाहिये। इस संयम
को धारण करने से (लहु) शीघ्र ही (सिव सिद्धि) मोक्ष की
सिद्धि (पावह) होती है।

टीका—जो जीव मिथ्या दर्शन, अज्ञान, असं-
यम, मोह भाव तिन्हें छोड़ करि सम्यग्दर्शनादि

की शुद्धता युक्त हैं । सो ही जीव परिहार विशुद्धि संयम के बारफ़ जाने ताहीं संयम करि जीव लघु काल में मोक्ष पावै है ॥१०१॥

सुहुमह लोहह जो विलउ सुहुमु दवे परिणामु ।

सो सुहुमह चारित्र मुणि लो सासय सुह धामु ॥१०२॥

सूक्ष्मस्य लोभस्य यः विलयः सूक्ष्मः भवेत्परिणामः ।

तत्सूक्ष्मचारित्रं मनुष्वं तत् शाश्वतं सुखधाम ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(सुहुमह) सूक्ष्म (लोहह) लोभ का (जो) जो (विलउ) नाश हाना है तथा कषाय (परिणामु) परिणाम जो (सुहुमु) सूक्ष्म-अतिशय मन्द (दवे) होता है । (सो) उसे (सुहुमह चारित्र) सूक्ष्म चारित्र कहते हैं । (सो) उस सूक्ष्म साम्परय चारित्र को (सासय सुखधामु) शाश्वत सुख का स्थान (मुणि) समझो ।

टिका—जो सूक्ष्म लोभ विलय होय सो ही सूक्ष्म लोभ ह्याग परिणाम है । सोही सूक्ष्म साम्यराय चारित्र जानो । सोई शाश्वत सुख का मंदिर है । **भावार्थ—**जहाँ सूक्ष्म लोभ के अंश का नाश हुआ सो ही सूक्ष्म साम्यराय नाम संयम है । जहाँ संज्वलन कषाय की लोभ प्रकृति अत्यन्त कृश हुई । बुद्धि पूर्वक लोभ नहीं रहा । कोई केवल ज्ञानी गम्य अति सूक्ष्म अंश है सो आगे ग्यारहवें

तथा भाग्नवें गुणस्थान में विलक्ष्णल ताङ्ग होय है सो ही शारवत सुख का धाम है । सो ही सूखम साम्यराय चारित्रि है । सोही मोक्ष सुख का कारण है ॥१०२॥

अरिहंतु वि सो सिद्ध फुडु सो आयरिड वियाणि ।

सो उज्जाओ सो जि मुणि णिच्छ्रय अप्पा जाणि ॥१०३॥

अहंनपि स सिद्धः स्फुटं स आचार्यः विजग्नीहि ।

स उपाध्यायः स एव मुनिः निश्चयेन आत्मा जानीहि ॥१०३॥

अन्वयार्थ—(णिच्छ्रय) निश्चय नय से (अप्पा) आत्मा ही (अरिहंतु) अहंदेव है । (सो) आत्मा ही (फुडु) निश्चय से (सिद्ध) सिद्ध परमात्मा है (सो) आत्मा को ही (आयरिड) आचार्य (वियाणि) जानना चाहिये । (सो) आत्मा ही (उज्जाओ) उपाध्याय है । (सो जि) आत्मा ही (मुणि) मुनि है ऐसा (जाणि) समझो ।

टीका—हे योगी निश्चय नयकरि एक आत्मा ही जान । सो ही अनन्त चतुष्टय मंडित अनन्त गुणमय संकल परमात्मा श्री अरहन्त देव हैं, सो ही निष्कल, कृतकृत्य, पुरुषाकार, चरम शरीर तें किंचित् उन शुद्ध बुद्ध श्री सिद्धि परमात्मा है ताहि अनुभव कर, सोही अनेक गुण मंडित आत्म साक्षात् करने वाले समय सार ज्ञान

रूप आचार्य परमेष्ठो जानो, सोही, धोय हैं विभाव
भाव रूपी मैल जिनने ऐसे उपाध्याय हैं, सो ही
आत्मा मोक्ष के साधक भावनि करि सहित मुनि-
साधु जानो और कोई नहीं एक चेतना लक्षण लिये
आत्मा ही को पंच परमेष्ठो रूप अनुभवो । सोही
निज आत्मा को जानो अथवा शुद्ध निश्चय नय
के विषये जिनने जोब मात्र हैं सो शुद्ध-बुद्ध सिद्ध
समान जानो, अन्य भाँति नहीं, जाते यह जोब शुद्ध
अनुभव करने ते शुद्ध होय है ॥१०३॥

१०—आगे आत्मा को अनेक नामनि करि गाइये हो ।

सो सिव संकर विराहु सो सो रह वि सो बुद्ध ।

सो जिण ईमर वंभु सो सो अण्टु पुडु सिद्ध ॥१०४॥

स शिवः संकरः विष्णुः स सहद्रः अपि स बुद्धः ।

स जिसः ईश्वरः ब्रह्मा स सञ्चनन्तः स्फुटं सिद्धः ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(स) वही (सिव) कल्याणकारी एवं
मुक्त होने से शिव है । (संकर) शान्तिप्रद, शान्तिस्थापक
एवं सुखकर तथा सुखमय होने से शंकर है । (विराहु) त्रैलोक्य
में ज्ञान द्वारा व्याप्त होने से विष्णु है । (सो) वही कर्म शत्रुओं
का संहारक तथा कषाय दैत्यों का मान मर्दत करने से रुद्र है ।
(सो) वही (बुद्ध) अनन्तज्ञानी-केवलज्ञानी-पूर्णज्ञानी होने से
बुद्ध है । (सो) वही आत्मा (जिण) कषाय, मन, इन्द्रिय और

कर्मों का जीतनेवाला होने से जिन हैं। (इसर) अनन्त चतुष्य, अष्ट प्रातिहार्य एवं समवशारण विभूति तथा ब्रैलोक्य के ऐश्वर्य को धारण करने से ईश्वर है। (बंसु) धर्म सृष्टि का उत्पादक होने से ब्रह्मा है, (सो) वही (अण्ठु) अनन्त चतुष्य धारी तथा अन्तविनाश रहित होने से अनन्त है। (फ़ड़) सर्वशा स्वगुणों से प्रगट होने से स्फुट है। (सिद्धु) सिद्ध को प्राप्त होने से सर्व कार्य सिद्धि कर लेने तथा आत्म स्वभाव की सिद्धि कर लेने से सिद्ध है।

टीका—भो भव्य ! आत्मा ही मोक्ष स्वरूपी शिव है, सोहो सुख का कर्ता वा सुखमय शंकर है, सोहो विभाव भावनि का तथा छटगल कर्म रूपी दैत्य असुर ता का संहारक वा अन्य जीवनि को भोह करि दुःखी देखि मोह रूपी दुष्ट वैरो का निग्रह करनहारा रुद है, सोहो ज्ञान स्वभाव का धारक बुद्ध है। सो हो कर्म शब्द का जेता जिन है। सो हो ब्रैलोक्य के ऐश्वर्य का धारक ईश्वर है। सो ही धर्म सृष्टि का उपजावनहारा ब्रह्मा है। सो हो अनन्त गुणकरि नहीं है अन्त जाका ऐसा अन्त रहित अनन्त है। सो हो स्फुरायमाण प्रत्यक्ष अनुभव गोचर ज्ञानोनि करि ध्यावने योग्य निष्कल शुद्ध सिद्ध परमात्मा है ॥१०४॥

एहियताक्षण्यालक्षितयत् जो परु णिक्कलु देउ ।

देहद मञ्जह जो वसइ तासु ण धीजह भेड ॥१०५॥

एतलक्षण्यालक्षितः यः परः निष्कलः देवः ।

देहस्थ भव्ये यः वसति तस्य न द्वितीयो भेदः ॥१०५॥

अन्वयार्थ—(एहियताक्षण्यालक्षितयत्) इन पूर्वोक्त लक्षणों से सहित (जो) जो (परु) परमोत्कृष्ट आत्मा (णिक्कलु) निर्देष एवं अशारीर (देउ) देव है और (जो) जो (देहद) देह के (मञ्जह) धीच में सर्वत्र (वसइ) रहता है । (तासु) वसका (वजड) दूसरा कोई (भेड) भेद (ण) नहीं है ।

टीका—इन लक्षणनि करि जो लक्षिये हैं, सो ही परमात्मा निष्कल देव है । जो देह विषें वसे है, तिसके अर शुद्ध जीव के कुछ भेद नहीं । **मावार्थ—**जिन लक्षणनि करि पहले दोहे में सिद्ध आत्मा का व्याख्यान कीना तिन लक्षणनि सहित देह विषें तिष्ठे आत्मा हैं तामें और शुद्ध आत्मा में भेद नहीं हैं जो सिद्ध आत्मा वैसा ही देह में निष्ठा आत्मा जानो ॥१०५॥

जे सिद्धभा जे सिद्धसिद्धि जे सिद्धभदि जिण उत्तु ।

आप्या दंसण ते यि फुडु पहड जाणि णिभंतु ॥१०६॥

ये सिद्धः ये सेत्स्यन्ति ये सिद्धान्ति जिनो वक्ति ।

आत्म दर्शनेन ते यि सफुटं एतज्जानीहि निर्भान्तम् ॥१०६॥

अन्वयार्थ—(जे) जो जीव (सिभा) संसार से सिद्ध हुये हैं (जे) जो (सिभसिहि) सिद्ध होगे (जे) जो (सिभहि) सिद्ध होरहे हैं । (जिए) श्रीमज्जिनाहृदेव (उत्तु) कहते हैं कि (ते) वे (लुडु) निरचय जे (अप्ता हूँसु) पात्म दर्शन दे डारा ही मुक्त हुये हैं, होगे, और हो रहे हैं । (एहउ) यह बात (गिर्भंतु) निःसन्देह (जाणि) समझो ।

टीका—अब आगे श्री योगीन्द्राचार्य श्रीमद योगसार नामा शास्त्र के व्याख्यान को समेट ते सन्ते सिद्धान्त का रहस्य समुच्चय करि भव्यनि प्रति कहते हैं । भो भव्य जन ! मुनि आवक आविका आर्या । सर्व सावधान होय अवण करो । निज आत्म ज्ञान करि ही अनादि अनन्त संसार समुद्र में जीव मोक्ष गये हैं । तथा जायेंगे । वा जाय हैं और आत्म ज्ञान शूल्य क्रिया काण्ड तथा आगम ज्ञान तथा तत्त्वार्थ अद्वान वा अनेक और प्रकार तिनकरि कभी भी किसी चेत्रकाल भाव द्रव्य करि नहीं जायेंगे । जो सोमें हैं, वा सीभेंगे, तथा पहले सीभे, सो सब ही निज स्वभाव की निर्मलता अनुभव करने ते, और तरह नहीं, जिन देव ने दिव्यध्वनि वाणी करि कहा है । कुछ अन्य अज्ञ पुरुष ने नहीं कहा । सो तुम प्रमाण करो । ऐसे किये तुम्हारा कल्पाण होगा ॥१०६॥

८०—आब आचार्य अपना नाम कहि शास्त्र को पूर्ण करे हैं ।

संसारहृ भयभीयप जोगिचद्र मुणिषण ।

अप्पा संबोहण कयहूं दोहाकचु मणेण ॥१०६॥

संसारात् भयभीतिन जोगिचन्द्र मुनियेन ।

आत्मसंबोधनाय छर्त दोहाकचु मनसा ॥१०७॥

अन्वयार्थ—(संसारहृ) संसार से (भयभीयप) भयभीत (जोगिचद्र मुनिषण) श्री योगिचन्द्र सुनीश्वर ने (अप्पा संबोहण) आत्म संबोधन अपने समझाने और अपने सुधार के लिये (दोहा कचु) दोहा छन्दों में यह अध्यात्म काव्य श्री योगसार ग्रन्थ (मणेण) हातिक शुभाभिलापा से, विशुद्ध मन से (कयहूं) निर्माण किया है ।

अर्थात् महर्षि योगिचन्द्र आचार्य ने संसार वेदनाओं से अत्यन्त भयभीत होकर आत्मोपकार और परोपकार की भावना से प्रेरित हो विशुद्ध मन से दोहा छन्दों में यह मुन्दर अध्यात्म काव्य श्री योगसार ग्रन्थ रचा है । इसमें आत्मा के विशुद्ध गुणों का दिवदर्शीत कराते हुये परमात्म पद की प्राप्ति का सुगम उपाय बतलाया है । स्वात्म ध्यान करने की समीक्षिन पद्धति बतलाकर उसका सुभाधुर फल साज्जात् आत्म सुखभोग समझाया है । ग्रन्थ की उपर्योगिता उपादेयता और समीक्षिनता अध्यात्म प्रेमी विद्वानों से किपी न रहेगी ।

टीका—श्री आचार्य कहे हैं कि मैं जो योगचन्द्र मुनि सो संसार जो जीवन मरण परिभ्रमण रथ

ताते भयभीत हुवा संता, अपनी आत्मा अध्या
त्म्य आत्मा के सम्बोधन के अर्थि दोहा काव्यनि
कृं किया है। मात्रार्थ—मैं कहु पंडितार्ह तथा मान
बड़ाई रूपाति पूजा लाभ विषय पोषने को,
सांसारिक और कार्य के निमित्त व पुन्य कर्म उपार्जन
के निमित्त तहीं कीना है। मैं तो एक निज
आत्मा के निज स्वभाव की लक्षित के अर्थि कीना
है, संसार के अपरण तें उपज्या हुँख ताकी त्रास
करि भयवान होइ ग्रन्थ बनाया है सो तुम बाँचो,
सुमो, पढ़ो, पढ़ावो, भेद ज्ञान कर आत्मा को
अनुभव करो। ऐसे इस योगसार नामा ग्रन्थ की
रचना, अध्यात्म का है उपदेश जा मैं सो एक सो
सप्त दोहा प्राकृत (अपश्रंश) बंध श्री योगचन्द्र
सुनि कीना ता मैं अनेक विशेषता लिये निश्चय
नय कर शुद्धात्मबोध के करावने का उपदेश दिया।
ताहि बाँचि सुनि अवधार चिन्तवन कर शुद्ध रूप
निज आत्मा को अनुभवो, जो संसार हुँख ते
निवृत होइ निज स्वभाव रूप प्रवृत्तो। यही तुमको
कर्त्तव्य है, ताही का उपदेश दिया है।

टीकाकार की लघुता दर्शन—

आगे बालकनि के खेलवत प्राकृत संस्कृत न्याय नीति काव्य
ज्ञान विज्ञा भाषा देश वचनिका रूप रचना कौन कारण तै हुई
सोई कारण लिखिये हैं ।

अनन्त आकाश मध्य पुरुषाकार ३४३ राजू प्रमाण
तीन लोक की रचना अनादि निधन है । सीदे पैर पसारे
दोनों हाथ कमरि पै धरै पुरुष के आकार लोक है । ऊंचा चौड़ह
राजू, घनाकार तीन सै तैतालीस राजू, मध्य में राजू एक, ऊपरि
ऊर्ध्वलोक राजू सात, तले पाताललोक सात राजू प्रमाण
ऊँचा जानो । तामैं असंख्यात द्वीप समुद्र कर युक्त मध्य
लोक है, ताके मध्य में जम्बू द्वीप, ताके मध्य सुमैर पवत, ताकी
दक्षिण दिशा भरतचेत्र, तामैं छह षड, मध्य आर्य खण्ड ताके
मध्य आयोध्या ताके पश्चिम में आगरा तामैं ताजगंज के मध्य
श्री जिन तेहसमें तीर्थकर श्री पार्वतीनाथ जी का मंदिर है । तामैं
श्याम वर्ण, नव कण संयुक्त प्रतिमा वेदी मैं विराजमान सर्व
जीवों की हितकारी है दशन जिनका । जिनही के दर्शन करि
उपाजी है किंचित ह्वान जिनको ऐसे आवक जन सकल वसे हैं ।
जिन मध्य एक तुच्छ बुद्धि अविदेशी, नहीं पढ़ी है संस्कृत प्राकृत
विद्या तथा न्याय नीति, अलंकार, गणित, पद्धति सुभाषित
अमरकोप कौमुदी पिंगल नामसाला इत्यादि पंडिताई की
कला । सो शैली मैं आवने तै कुछ तोते की नाई भाषा बांबे तै
कुछ बोलने लगा । जिन बोध का रहस्य का पावना कठिन है
परन्तु सभा मैं शब्द भाषा बांचै सुनै ता करि तथा आवक

ठाकुरदास ऋष्यभद्रास पश्चालाल के मुख सेवी उपदेश सुनि शीर्ष
पहि जितके उपदेश उमभिं के दुःख जिन गत की परंपरा करने
बाली हुई है बुद्धि जा की सो अब ऐसा कारण हुआ जो मंदिरजी
में बहुत ग्रन्थ भंडार में हैं तितकी सँभाल भाई उमेदीमल के हाथ
सो उनकी स्नेह दृष्टि से योगसार ग्रन्थ ताहि भंडार से ले आवा
सो मन बहुत लगा परन्तु प्राकृत विद्या विना प्राकृत दोहा कैसे
खुलै जैसे यंत्र विना अंध पुरुष बट पट को न देख सके पांगुला
चल न सके गूंगा बोल न सके बहरा सुन न सके धन रहित दान
दे न सके तैसे विद्या विना शास्त्र का बोचना अर्थ करना समझना
समझावना होय न सकै । सो मन में बड़ा उद्गेग रहै परन्तु कुछ
यतन बने नहीं परन्तु बोचना निरंतर रहै सो ओ जिन तथा
जिनवाणी ग्रन्थ साधु तथा रब्रव्रयादि धर्म और श्री पाश्वनाथ का
प्रतिविम्बादि जैन प्रतिमा जैन तीर्थ क्षेत्र पंचकल्याणक काल
शुभ भाव केवल ज्ञानीका देह रूप द्रव्य शुद्ध बुद्ध आत्म का नाम
लेना इत्यादि मंगल के प्रताप तैं वा करमज्ञायपशम तैं वा भाई
बल्लामल के स्नेह की दृष्टि से कुछ बतावने तैं वा मथुरादास
भाई की प्रेरणा कर इस महान् ग्रन्थ श्रीमद्योगसार को देश
बचनि का रूप भाषा बालबोध बाल स्तेल की नाई रची । सो
इसके भाषा लिखने में भूल तौ पद पद में होयगी काहे तैं जिस
सुदूर क्षेत्र के गमन में प्रीढ़ पुरुष भी चलते थके सो दुर्बल
पांगुला शक्तिहीन नेत्र रहित कैसे चलै । यहाँ कोई प्रश्न करै तुम
में बुद्धि नहीं तौ भाषा क्यों करी । ताका उत्तर जो तुम कहा सो
सत्य परन्तु इतना है भाषा मान बड़ाई पंडिताई के निमित्त तौ
रची नहीं धर्म राग कर भाषा कीनी जहाँ समझि में नहीं आया
तहाँ बल्लामल सेवी पूछ लीना शेष कोई भाव नहीं समझ पड़ा

सो आन्नाय मिलता लिखा हठ तैं जिन सत के विरोध रूप
नहीं लिखा है । जो बुद्धि की हीनता तैं प्राकृत शब्द का
अर्थ न आया वा सूहम् अर्थ न आया वा भाषा समझ
में नहिं पाया सो परोक्ष बुद्धिमान् पुरुषनि कों अपनी विनती
करैं हौं जो बालवत् भाषा कीनी ताहि बांच भूल सुधार क्षमा
धर प्राति राखि मन में बालक समान बोध रहित समझ सम
भाव रखने कैसे बालक कल्यु औटपाई काम करै ताहि बुद्धिमान्
देखि क्षमा ही करैं दोष कों नहीं गिनैं । जो भला काम करत बालक
चूकै तापर कैसे कोध करैं, नहीं करैं, तैसै ही हमकों जानना । अथ
वणिक कुल में आगरवाल गोदूल गोती नंदराम मेंद मर्ती कर
रची छंद ।

छन्द ।

श्रो योगीन्द्रदेव योगीश्वर योगसार प्राकृत मई कीन ।
अध्यात्म का कथन जासमै सुनत हुव निज रस में लीन ॥
ताकी बालबोध बालकवत् देश वचनि भाषा अवहीन ।
कीनी सुगम रूप सुन भज्य जन पहो सुनौ विन्तौ प्रवीन ॥

कवित ।

संवत् उच्चित सतक ऊपरै अंक भरौ तुम चार सुधार ।
फागण सेत पुनीत नवर्मा चन्द्रचार लीसरा एहार ॥
शुभ नक्षत्र विवें पूरण कर राजा प्रजा सबै सुखकार ।
चंद्र सूरज धर्लौ तवलौ इह ग्रन्थ रही ब्रूप का दातार ॥

छप्य ।

प्रथम नमौ अरहंत एरम मंगल के दाता ।
नमौ लिङ्ग भगवंत सूर करमनि के घाता ॥

नमौ उपाध्याय साधु महा मंगल के दानी ।
जिमवानी जिन धर्म जैन प्रतिमा अशहानी ॥
जिन तीरथ जिन नाम को नमौ नमौ कर जोरिकै ।
मंगल उत्तम सरन हम होहु मुकि सुख कारनै ॥

इति श्रीभद्र योगसार नामा ग्रन्थ प्राकृत वंध दोहा ताकी
भाषा बचनि का संपूर्ण ।

मिती फागुन शुक्ल ६ चन्द्रवासरे संवत् १६०४ ।

* शुभ कामना *

योगीन्द्रचन्द्र का ग्रन्थ शुभ, योगसार सुखकार ।
“पादन” आत्म ज्ञान कर, लुक्षी करे संसार ॥



सत्यपाल शर्मा द्वारा कान्ति प्रेस, माईयाम-आगरा में मुद्रित ।